इलाचन्द्र जोशी

साहित्य-सुमनमाला सं०—१०

साहित्य-सर्जना

(लेखक के उच्चकोटि के गंभीर साहित्यिक लेखों का संकलन)

लेखक

श्री इलाचन्द्र जोशी

प्रकाशक

छात्रहितकारी पुस्तकमाला

दारागंज, प्रयाग।

द्वितीय संस्करण] १९४५ [मू० १।)

प्रकाशक

बाबू केदारनाथ गुप्त, एम० ए०

प्रोप्राइटर—छात्रहितकारी पुस्तकमाला

दारागंज प्रयाग ।

मुद्रक

सरयू प्रसाद पांडेय 'विशारद'

नागरी प्रेस, दारागंज,

प्रयाग ।
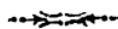
निवेदन

समय समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में मेरे जो साहित्यालोचन-सम्बन्धी लेख छपते रहे हैं उनमें से सोलह लेख वर्तमान संग्रह में संकलित किए गए हैं। प्रत्येक लेख के लिखे जाने या छपने का समय निर्देशित कर दिया गया है। मैं नहीं जानता कि मेरे विचारों से कितने पाठक सहमत होंगे। पर यदि साहित्य-मर्मज्ञ इनमें सहृदयता तथा अन्तरानुभूति का कुछ भी लेश पावेंगे, तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूंगा।

—इलाचन्द्र जोशी

विषय-सूची

साहित्य-सर्जना

साहित्य-कला और विरह

"आमार माझारे जे आछे से गो कोन विरहिणी नारी ?"* (रवीन्द्रनाथ)

सभ्य संसार के इतिहास में साहित्य की अभिव्यक्ति एक आश्चर्यमयी घटना है। इससे यह पता चलता है कि मानव-हृदय प्राथमिक अवस्था से कितनी दूर तक विकसित होता हुआ चला गया है। प्राथमिक अवस्था में मनुष्य कला से अनभिज्ञ होने पर भी, अज्ञात में, एक प्रकार की निगूढ़ वेदना, अपने अंतस्तल के सुदूर किसी निभृत प्रांत में, अवश्य ही अनुभव करता था। आज भी हम देखते हैं, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया की जंगली जातियों में और हमारे देश के भील, संथाल आदि लोगों में नाना प्रकार की नृत्य-गीतादि कलाओं के उत्सव मनाए जाते हैं। ये उत्सव अंतस्तल की उसी निगूढ़ वेदना के प्रतीक हैं। बर्बर लोगों की इन्हीं कलाओं से सभ्य समाज के भीतर साहित्य, संगीत, चित्र-शिल्प, भास्कर्य आदि उन्नत कलाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। अब यह देखना चाहिए कि अंतस्तल की जिस निगूढ़तम वेदना से ये सब कलाएँ उत्थित हुई हैं, उसका मूल-उत्स कहाँ पर है।

---

*मेरे भीतर कौन विरहिणी नारी बसा हुई है ?

अदम्य आत्म-प्रकाश की प्रवृत्ति के कारण विरह का भाव स्फुरित होता है। कला का मूल यहीं विश्वव्यापी विरह का भाव है। और आश्चर्य यह है कि विरह आनन्द की ही सृष्टि है। जब आनन्द के कंपन ने अव्यक्त को द्विधा करके व्यक्त प्रकृति को परिस्फुटित किया तब सृष्टि के रोम-रोम में विरह का भाव व्याप्त हो गया। इसलिये सृष्टि के आदि से अव्यक्त पुरुष और व्यक्त प्रकृति इस पारस्परिक विरह के द्वारा ही आनन्द का रस लूट रहे हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है'—'उस अनादि अव्यक्त पुरुष को अपने को व्यक्त करने की इच्छा हुई; क्योंकि एकत्व में किसी को आनन्द नहीं मिलता, दो होने में ही आनन्द है—द्वैध भाव से ही आनन्द का रस मथित होता है। इसलिये उसने अपने को पुरुष और नारी के रूपों में विभक्त किया। यही कारण है कि पुरुष और नारी एक दूसरे के प्रति इतने प्रबल आकर्षण के साथ मिलित होना चाहते हैं। समस्त शून्य-मंडल नारीत्व के भाव से भरा हुआ है।" सनातन नारीत्व के इस भाव के कारण ही सृष्टिजन्य विरह के भाव द्वारा हम आनन्द का अनुभव कर पाते हैं। प्रकृति के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन तन्मात्राओं में से किसी के भी संप्लवन से हमारे हृदय में तीव्र रूप से विरह का भाव जागरित हो उठता है। अन्य समय हम अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मों में व्यस्त रहते हैं, और उन कर्मों को ही जीवन का चरम उद्देश्य समझे हुए होते हैं। पर अचानक जब कोई अनुपम रूप हमारे दृष्टिगोचर होता है, या कोई अभिनव गीत हमारे कानों में ध्वनित होता है, तब बिना किसी कारण के हमारा हृदय विकल हो उठता है, और संसार के समस्त विधि-विधान पल-भर के लिये हमें अत्यंत तुच्छ जान पड़ते हैं—हृदय अज्ञात रूप से अपने चिर-प्रियतम से मिलित होने के लिये उत्सुक हो जाता है। कला के भीतर नाना रूपों में मनुष्य इसी विरह का रोना रोने की चेष्टा करता है। इस चेष्टा में वह अपूर्व आनन्द पाता है।

साहित्य-कला की अभिव्यक्ति भी इसी मूल-भाव में हुई है। साहित्य का कोई भी ग्रन्थ कहीं भी देखिए, उसमें नाना चेष्टाओं के भीतर अन्त को इसी भाव के स्फुरण की चेष्टा पाई जायगी। इलियड, ओडोसी, रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों में नाना जटिलताओं के भीतर अंत को वही अनन्तकालिक वेदना अपने को प्रकाशित करती है। 'ओडीसी में युलिसीस के अनेकानेक जटिलतापूर्ण असीम साहसिक कार्यो की गति भीतर-ही-भीतर अन्तःसलिला नदी की तरह विरह की व्याकुलता प्रकाश करती हुई अनन्त की ओर धावित होती है। इस भाव को टेनिसन ने भी अपनी युलीसीज शीर्षक कविता में दर्शाया है। रामायण में स्नेह-प्रेम, सुख-दुख, युद्ध-विग्रह की अनेक जटिलताओं के परे राम और सीता का प्रेम अनन्त के प्रति अपनी विरहांजलि निवेदित करके, सीमा को उल्लंघन करता हुआ, असीम के संधान में चला जाता है। रामायण के कवि के हृदय में अनन्तकालिक विरह की कितनी तीव्र अनुभूति वर्तमान थी, इसका परिचय इसी बात से मिलता है कि लङ्का-विजय के अनन्तर सुकठिन मिलन के बाद भी राम और सीता का चिरविच्छेद संघटित हो जाता। समग्रता की दृष्टि से यदि विचार किया जाय, तो चिर-सती सीता के पाताल-प्रवेश की सार्थकता केवल इसी बात पर है कि वह स्त्री और पुरुष के जन्म जन्मान्तर का विरह प्रस्फुटित करके सृष्टि के केन्द्र में स्थित अनन्तव्यापी विरह की अनुभूति हृदय में जागरित कर देता है। अन्यथा सीता-जैसी साध्वी स्त्री का पति के कैसे ही भारी दोष के कारण पाताल-प्रवेश करके सदा के लिये विच्छिन्न हो जाना बिलकुल असंगत है। पाताल-प्रवेश का यह अर्थ नहीं कि सीता सदा के लिये पति से अलग हो गईं। जिस अभिमान के भाव के कारण उन्होंने पृथ्वी के भीतर प्रवेश किया, उसी अभिमान की प्रेरणा से उनका प्रेम जन्मांतर के लिये प्रेरित हो गया। विरह के विस्तार का भाव ही इस रूपक से ध्वनित होता है; क्योंकि विरह के आधार पर

ही हम आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। महाभारत के भयङ्कर युद्ध के भीतर जो निष्काम भाव छिपा हुआ है, वह और कुछ नहीं, अनादि पुरुष के मिलन की अपेक्षा में 'शब्द के वेध' से व्यथित हुए व्यक्तियों की त्याग-पूर्ण तपस्या ही है। गीता में वर्णित निष्काम धर्म दूसरे ढङ्ग से प्रियतम के विरह में व्याकुल अर्जुन को इसी तपस्या का उपदेश देता है।

अभिज्ञान-शाकुन्तल में कवि ने इस अज्ञात विरह को प्रस्फुटित करने के लिये ही दुष्यन्त को शाप-भ्रष्ट करवाया है। शाप-भ्रष्ट होने के कारण ही दुष्यंत चिरकालिक विरह का तत्व समझ पाते हैं। राजा महल के भीतर सुख से बैठे हुए हैं। चित्त में उनके एक निर्विकार शांति का भाव व्याप्त है। ऐसे समय अन्तःपुर से स्त्री-कण्ठ से निर्गत एक सुमधुर आलाप सुनाई देता है। तत्काल राजा के मन में एक प्रकार की तीव्र उत्सुकता का भाव उच्छ्वसित हो उठता है। अभी-अभी तो चित्त शांत था, तब यह सुमधुर राग क्यों व्याकुलता उपस्थित करता है? "किं नु खलु सुहृज्जनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कंठितोऽस्मि ?" वह अपने हृदय से प्रश्न करते हैं कि प्रियजन के विरह के बिना भी मैं क्यों ज़बर्दस्ती उत्कंठित हुआ जाता हूँ ?" इसके उत्तर में हृदय से यह भावना उत्थित होती है—

> रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
> पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
> तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्
> भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

रमणीय वस्तु के दर्शन और मधुर शब्द के श्रवण से सुखी लोगों को भी उत्सुक होते हुए देखकर यही समझ में आता है कि उन लोगों को निश्चय ही ऐसे अवसर पर भाव के भीतर अज्ञात रूप से स्थित जन्मांतर के प्रेम का स्मरण हो आता है।

जन्मान्तर के इस प्रेम से सम्बन्ध रखनेवाला प्रियजन का विरह ऐसा विरोधाभास-पूर्ण तथा अनोखा है कि प्रियजन के मिलन के अवसर पर वह तीव्रतर होकर व्यक्त होता है। जिस दिन हमारे मन में आनन्द का आधिक्य होता है, उस दिन वह 'व्याकुलता' भी बढ़ जाती है। पूर्णिमा की आनन्दमयी ज्योत्स्ना-रात्रि में, शरत् की सुन्दरी संन्ध्या में, फाल्गुन के उज्ज्वल प्रभात में हम प्रबलता से इस अकारण विरह का अनुभव करते हैं। रवीन्द्रनाथ ने इसी कारण से लिखा है—

> पूर्णिमानिशीथे जबे दशदिके परिपूर्ण हासि,
> दूरस्मृति कोथा होते बाजाय व्याकुलकरा बांसि,
> झरे अश्रुराशि !

पूर्णिमा की रात्रि में जब सर्वत्र परिपूर्ण उज्ज्वल मुसकान व्याप्त रहती है, तब दूर की स्मृति वंशी में अत्यन्त व्याकुलता पूर्ण राग बजा देती है, जिनके कारण आँसुओं की झड़ी लग जाती है।

इस कारणहीन विरह-जनित अश्रुओं का उल्लेख टेनिसन ने भी Princess नामक काव्य में इस प्रकार किया है—

> Tears, idle tears, I know not what they mean,
> Tears from the depth of some divine despair
> Rise in the heart, and gather to the eyes,
> In looking on the happy Autumn-fields,
> And thinking of the days that are no more.

अर्थात् "मुझे नहीं मालूम कि मेरे इन अकारण अश्रुओं का रहस्य क्या है! जब मैं शरत की प्रसन्नता से परिपूर्ण खेतों को देखता हूँ, और उन दिनों की बात सोचता हूँ जो सदा के लिये बीत चुके, तो किसी स्वर्गीय वेदना की गहराई से ये आँसू हृदय में उमड़ कर आंखों में समा जाते हैं।"

इस Divine despair (स्वर्गीय विरह) के भाव के सम्बन्ध में कबीर भी कह गए हैं—

सब रग तांत, रबाब तन, विरह बजावै नित्त।
और न कोई सुन सकै, कै साँई, कै चित्त।

दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेमजन्य मिलन और विरह की गाथा से इसी 'नित्य विरह' का भाव स्फुरित होता है। चैतन्यदेव के सखीभाव की लीला पर कौन रसिकजन पागल नहीं हुआ? इस सखी-भाव के मूल में यही प्राथमिक विरह का भाव वर्तमान है। इसी विरह-लीला ने अनेक वैष्णव कवियों के मुँह से अभिनव सुन्दर गीत गवाए हैं। चंडी-दास, विद्यापति, ज्ञानदास आदि कवियों की कविता में विरह का भाव अपूर्व रूप से स्फुरित हुआ है। कबीर का सखी-भाव भी इसीलिये इतना मनमोहक है। तुलसीदास ने यद्यपि प्रकट रूप से सखी-भाव ग्रहण नहीं किया तथापि राम के प्रति उनकी भक्ति की तीव्रता उसी 'भावस्थिर' विरह की ही द्योतक है। मीरा की पदावलियाँ तो इस भाव से ओत-प्रोत हैं। हमारे वर्तमान कवियों में शुभश्री महादेवी वर्मा की कविता इसी भाव की तीक्ष्ण मार्मिकता के कारण अतलव्यापी विकलता से विह्वल है।

संसार के रात-दिन के झंझटों से तथा शुष्क ज्ञान की आलोचना से हम उकता जाते हैं; पर रूप-रस-गंध-गीत का संप्लवन अचानक शून्य के किसी अज्ञात प्रांत से आकर हमें व्याकुल करके जीवन की समग्रता का अनुभव करा देता है, और हम जीवन की तुच्छता से मुक्ति पाकर अनन्त के साथ मिलित होने के लिये उत्सुक हो उठते हैं। जर्मन कवि ग्येटे ने अपने जगत्-विख्यात Faust नामक ग्रंथ में यही भाव दर्शाया है। फाउस्ट समस्त जीवन दर्शन की आलोचना करके जब यह देखता है कि उसे इस जीवन में अणु-मात्र भी सुख नहीं मिला, तो दर्शन को ताक में रखकर वह सुखान्वेषण के लिये

मन्त्र सिद्धि के काम में लग जाता है। पर आरम्भ में उससे भी कुछ लाभ न देखकर वह संसार के दुःखों का अनुभव करते हुए जीवन से उकता जाता है, और जहर का प्याला लेकर मुँह में डालना ही चाहता है कि अचानक दूर बाहर से आते हुए 'मधुरान् शब्दान् निशम्य' वह विह्वल होकर, ठिठककर खड़ा रह जाता है। ईस्टर के दिन मसीहा के जागरण का उत्सव गीत-वाद्य द्वारा मनाया जा रहा है। उत्सव की इस उल्लासमय ध्वनि से उसके हृदय में भक्ति का भाव आनन्द पैदा नहीं करता; पर आनन्द की भूली हुई पुलक पल्लवित स्मृतियाँ अपनी सुमधुर व्याकुलता से उसे उत्सुक कर देती हैं, और वह ज़हर के प्याले को हटाकर अलग रख देता है। अज्ञात उत्सुकता का यह भाव भक्ति के भाव से बहुत उन्नत तथा आनन्दमय है। इस उत्सुकता से फाउस्ट जीवन की समग्रता का अनुभव करने के लिये लालायित हो उठता है।

जिस प्रकार 'मधुरान् शब्दान् निशम्य' फाउस्ट पागल होता है, उसी प्रकार 'रम्याणि वीक्ष्य' यक्ष का हृदय चित्रकूट के शिखर पर प्रकंपित हो उठता है। नव-वर्षा का मेघ अपने गंभीर रूप तथा सुनिबिड़ रस से विरही यक्ष को निखिल तत्व के साथ एक करके उसके हृदय में वही चिर-पुरातन वेदना मथित कर देता है। अलकापुरी के आनन्द की स्मृतियों से भाराक्रांत इस यक्ष का विरह कबीर के विरह से बहुत भिन्न नहीं है। भिन्नता जो कुछ है, वह यही कि यक्ष 'रूप' के भीतर विरह का आनन्द प्राप्त करता है और कबीर सीधे 'अपरूप' के लिये व्याकुलता प्रकाश करते हैं पर जब 'बुंद समाना समुद्र में' तब रूप अपरूप में ही लीन हो जाता है। इस संबन्ध में हम आगे जाकर किसी लेख में विशेष प्रकाश डालेंगे। इस समय हम केवल यही दिखलाना चाहते हैं कि विरह किसी भी रूप में हो, वह सृष्टि के मूल में स्थित विरह का ही प्रतिबिंब है।

केवल यही नहीं, संसार के रात-दिन के सुख-दुःख, आशा-निराशा स्नेह-प्रेम, कलह-द्वन्द्व के भीतर भी इस विरह का खेल चलता है। कवि इन प्रात्यहिक तुच्छ घटनाओं के प्रवाह में बिजली की झलक के समान विरह का आभास क्षण-क्षण भर में पाता रहता है, और उसे खंड कविता, नाटक, उपन्यास तथा छोटी कहानियों के रूप में व्यक्त करता है। अनन्त के प्रति प्रेम का भाव कोई दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक सिद्धांत नहीं है। वह हृदयानुभूत जीवित सत्य है। उसमें अनादि पुरुष की व्यक्तिगत अनुभूति प्रछन्न है। इसलिये जिस बात में मनुष्य के व्यक्तिगत हृदय का संबन्ध नहीं रहता, उसमें विरह की व्याकुलता का अनुभव नहीं किया जा सकता। दर्शन के सूत्र में 'अनन्त' एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व-मात्र है, पर हृदय की विरहानुभूति में वह तत्व व्यक्तिगत सत्ता से युक्त अनादि पुरुष है। व्यक्तिगत सुख-दुखः का अनुभव करनेवाले पुरुष के साथ ही प्रेम की लीला चल सकती है, किसी शुष्क सिद्धांत के साथ नहीं। इसलिये जब कोई लेखक मानव की व्यक्तिगत व्यथाओं के प्रकाश के लिये नहीं, पर किसी तत्व की प्रतिष्ठा के लिये कोई काव्य या उपन्यास रचता है, तब कला की दृष्टि से उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता क्योंकि कला का विकास विरह के भाव में है और विरह मानवत्व में व्यक्त होता है।

वेदांतदर्शन काव्य नहीं है। उसके भीतर मनन के योग्य शुष्क ज्ञान है। पर कबीर ने प्रेम-जन्य विरह के माध्यम से उसी दर्शन के तत्त्व को अपनाकर अपूर्व, अभिनव तथा मायावी कविता की सृष्टि कर डाली है। वैष्णव कवि तथा रवींद्रनाथ के भगवत्-प्रेम के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। इसी प्रकार सामाजिक तथा राजनीतिक तथ्यों का उपयोग भी साहित्य में किया जा सकता है; पर उनमें अनन्त की वेदना का रङ्ग देना पड़ता है। बर्नार्ड शा के सामाजिक तथा राजनीतिक चित्रों का मूल्य साहित्य के विचार से कुछ

भी नहीं है, क्योंकि वे कोरे तत्त्व हैं, और उनमें मानव के हृद्गत भावों की वेदना का कुछ भी स्थान नहीं है। पर रवींद्रनाथ ने 'विसर्जन', 'मुक्तधारा' आदि नाटकों में इसी प्रकार के चित्रों को अत्यंत सुन्दर रूपक के भीतर अनन्तकालिक वेदना से रङ्गकर उन्नत तथा स्थायी साहित्य की सृष्टि कर डाली है। कला के भीतर वर्तमान की समस्याओं को समाचार-पत्रों के संवादों तथा मासिक पत्रों के अस्थायी विवादों की तरह वर्तमान के लिये ही हल करने की चेष्टा करने से कुछ समय के लिये भले ही उसका मूल्य रहे, पर कुछ दिनों के बाद उसकी भित्ति जीर्ण प्राचीर की तरह अवश्य ही दुर्बल पड़ जायगी। पर वर्तमान को अनंत की व्याकुलता के साथ सम्मिलित करने से चिर-काल के लिये उसकी महत्ता बनी रहती है। रामायण की कथा के नित्य-पाठ से हम क्यों नहीं ऊबते? कारण यह है कि उसमें जिस वेदना का प्रकाश पाया जाता है, वह चिर-सत्य है। यही बात साहित्य के अन्य श्रेष्ट ग्रंथों के संबंध में भी कही जा सकती है। आधुनिक उपन्यासों में वर्तमान के सुख दुःखों का ही चित्र अंकित करने की चेष्टा पाई जाती है। पर उनमें जो उपन्यास स्थायी कहलाने योग्य होते हैं, उनमें प्रतिदिन की सुख-दुःख की वासना को अनन्त के साथ सम्मिलित करने की व्याकुलता प्रकाशित होती है।

हम पहले ही कह आए हैं कि रात-दिन के सुख-दुःखों की घटनाओं में घड़ी-घड़ी अनन्त विरह का भाव प्रकाशित होता रहता है। इसी भाव को रवींद्रनाथ ने इस प्रकार से व्यक्त किया है—

घरे-घरे आजि कत वेदनाय
तोमारि गभीर-विरह घनाय,
कत प्रेमे हाय कत वासनाय
कत सुखे दुःखे काजे हे।

"घर-घर में आज कितनी ही वेदनाओं के भीतर, कितने ही प्रेम प्रयोगों तथा वासनाओं में, सुख-दुःख की कितनी ही घटनाओं में, तुम्हारा ही निगूढ़ विरह घनी-भूत होता है।"

किसी अन्य कविता में रवीन्द्रनाथ ने लिखा है - "लोग मेरे गीतों के नाना प्रकार के अर्थ करते हैं पर उनका अन्तिम अर्थ तुम्हारे ही प्रति निवेदित होता है।" तुलसीदास ने जब लिखा था कि राम के चरित्र वर्णन के बिना कविता शोभित नहीं होती, तब उन्होंने कुछ अंश में इसी भाव का आभास पाया था। कला की कोई भी रचना हो, उसका अन्तिम अर्थ यदि अज्ञात रूप से अनन्त के प्रति धावित नहीं होता, तो वह कभी स्थायित्व नहीं प्राप्त कर सकती। अनन्त की वेदना की अनुभूति से अनन्त के आनन्द का अनुभव कराना ही साहित्य का मूल उद्देश्य है।

(मार्च, १९२७)

कला और नीति

कला का मूल उत्स आनन्द है। आनन्द प्रयोजनातीत है। सुन्दर फूल देखने से हमें आनन्द प्राप्त होता है; पर उससे हमारा कोई स्वार्थ या प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। प्रभात की उज्ज्वलता और सन्ध्या की स्निग्धता देखकर चित्त को एक अपूर्व शांति प्राप्त होती है; पर उससे हमें कोई शिक्षा नहीं मिलती, और न कोई सांसारिक लाभ ही होता है। कारण, आनन्द का भाव समस्त लौकिक शिक्षा तथा व्यवहार से अतीत है। उसमें कोई बहस नहीं चल सकती। हमें आनन्द क्यों मिलता है, इसका कोई कारण नहीं बताया जा सकता। वह केवल अनुभव ही किया जा सकता है। "ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अंतर्गत ही भावै।" आनन्द का भाव वाणी और मन की पहुँच के बिलकुल अतीत है। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" पर नीति का सम्बन्ध मन के साथ है। मन बिना आलोचना के आनन्द के सहज भाव को ग्रहण नहीं करना चाहता। वह पोथी पढ़-पढ़कर 'पंडिताई' में मस्त रहता है। सहज प्रेम के 'ढाई अच्छर' से उसकी तृप्ति नहीं होती। वह कविता पढ़कर इस बात की खोज में लग जाता है कि इसमें अर्थनीति, राजनीति, राष्ट्रतत्व, भूतत्व, जीवतत्व अथवा और कोई तत्व हैं या नहीं। वह यह नहीं समझना चाहता कि इस कविता में आनन्द का जो अमिश्रित रस है, उसके सामने किसी भी तत्व का कोई मूल्य नहीं। पर जो लोग इस दुष्ट समालोचक मन को दमन

करने में समर्थ होते हैं, वे कला के 'आनन्दरूपममृतम्' का अनुभव कर लेते हैं। उपनिषदों में हमारे भीतर पाँच पृथक्-पृथक् कोषों का अवस्थान बतलाया गया है—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष। अन्नमय कोष के संस्थान के लिये हमें अर्थनीति की आवश्यकता होती है प्राणमय कोष की पुष्टि के लिये धर्मनीति की, मनोमय कोष के लिये कामनीति की, और विज्ञानमय कोष के लिये वैज्ञानिक नीति की। पर जब इन सब कोषों की स्थिति को पार करके मनुष्य आनन्दमय कोष के द्वार खटखटाता है, तो वहां सब प्रकार की नीति तथा नियमों के गट्ठर को फेंककर भीतर प्रवेश करना पड़ता है। वहां यदि नीति किसी उपाय से घुस भी गई, तो उसे इच्छा के शासन में वेष बदलकर दुबके हुए बैठना पड़ता है। लौकिक तथा प्राकृतिक बंधनों की अवज्ञा करनेवाली इस सर्वजयी इच्छा महारानी के आनन्दमय दरबार में नैतिक शासन का काम नहीं है, वहां सहज प्रेम का कारोबार है। वहां इस प्रेम के बंधन में बँधकर पाप और पुण्य भाई-भाई की तरह एक दूसरे के गले मिलते हैं।

नीति ? इस विपुल सृष्टि के मूल में क्या नीति है ? क्या प्रयोजन है ? क्या तत्व है ? प्रतिदिन असंख्य प्राणी विनाश को प्राप्त हो रहे हैं, असंख्य प्राणी उत्पन्न होते जाते हैं; उत्पन्न होकर फिर अपने प्रेम, घृणा, सुख-दुःख, हँसी-रुलाई का चक्र पूरा करके अनन्त में विलीन हो रहे हैं। इस समस्त चक्र का अर्थ ही क्या है ? अर्थ कुछ भी नहीं; यह केवल भूमा के सहज आनन्द की लीला है।

विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति, तत्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उसके अलौकिक मायाचक्र से हमारे हृदय की तंत्री आनन्द की झंकार से बज उठती है, यही हमारे लिये परम लाभ है। उच्च अंग की कला

के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौंदर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।

हिन्दी-साहित्य के वर्तमान समालोचक जब तक कला की किसी रचना में कोई तत्व नहीं पाते; तब तक उसकी श्रेष्ठता स्वीकार करने में अपना अपमान समझते हैं। जिन रचनाओं की वे प्रशंसा करते हैं, उनकी विशेषता के सम्बन्ध में यदि उनसे पूछा जाय, तो वे उत्तर देते हैं, अमुक रचना में किसानों की दुर्दशा का प्रश्न हल किया गया है, अमुक ग्रंथ में राष्ट्र तत्व की व्याख्या बहुत अच्छी तरह की गई है, अमुक ग्रंथ में हमारे सामाजिक पतन पर विचार किया गया है। यह हमारे समालोचकों के कला-सम्बन्धी विचारों के आदर्शों का नमूना है! इन आदर्शों के आधार पर कला की श्रेष्ठता का विचार करने से साहित्य में हीनता उपस्थित होती है।

रामायण के मूल आदर्श के भीतर हमको कौन सा नैतिक तत्व प्राप्त होता है? कुछ भी नहीं। उसके भीतर केवल राम की विपुल प्रतिभा की स्वाधीन इच्छा का लीलामय चक्र, विस्तृत रूप मे अत्यन्त सुन्दरता के साथ, चित्रित हुआ है। रामायण निस्सन्देह वृहत् ग्रंथ है, और उसके विस्तृत क्षेत्र में सहस्रों प्रकार के नैतिक उपदेश स्थान-स्थान पर ढूँढ़ने से मिल सकते हैं। पर इस प्रकार खंड-खंड रूप से इस महाकाव्य को विभक्त करने से उसकी अखंड, वास्तविक तथा मूल सत्ता का नाश हो जाता है। यदि उसकी वास्तविक श्रेष्ठता का कारण हमें मालूम करना है, तो हमें उसकी समग्रता पर ध्यान देना होगा। उसके मूल आदर्श पर विचार करना पड़ेगा। रामायण से यदि हमें केवल यही तत्व पाकर सन्तोष करना पड़े कि उसमें पितृ-भक्ति, भ्रातृ-स्नेह तथा पातिव्रत्य का उपदेश दिया गया है, तो यह महाकाव्य अपनी आनन्दोत्पादिनी महत्ता को खोकर एक अत्यन्त क्षुद्र नीति ग्रंथ में परिणत हो जाता है। ऐसे उपदेश हमें सहस्रों साधारण नैतिक श्लोकों तथा प्रवचनों

मे रात-दिन मिलते रहते हैं। तब इस काव्य में विशेषता क्या है ? इसकी कथा सहस्रों वर्षों से जनता के हृदयों में अखंड रूप से क्यों विराजती आई है ? कारण वही है, जो हम पहले बतला आए हैं। अनादि पुरुष की "एकोऽहं बहुस्याम्" की इच्छा की तरह प्रतिभा भी सृजन का कार्य करती है। जिस प्रकार सृष्टि-कर्ता के उपदेश का रहस्य कुछ न जानने पर भी हमें उसकी माया के खेल में आनन्द आता है, उसी प्रकार प्रतिभा की स्वाधीन इच्छामयी उद्दाम प्रवृत्ति की सर्जना का अभिनव विलास देखकर, उसका मूल आदर्श न समझने पर भी, हमें सुख प्राप्त होता है। राम की प्रतिभा अपूर्व तथा सुविस्तृत थी। राम तत्काल वन-गमन के लिये क्या तत्पर हो गए ? पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये उन्होंने ऐसा नहीं किया। वह पिता की इच्छा भलीभाँति जानते थे। वह जानते थे, पिता उन्हें वन भेजना नहीं चाहते और यथाशक्ति उन्हें उनके ऐसा करने से रोकेंगे। पर प्रतिभा किसी भी बात पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से विचार करके बाल की खाल निकालना नहीं चाहती। इसीलिये लोग उसका इतना सम्मान करते हैं। वह एक झलक में समस्त स्थिति को समझकर अपना कर्तव्य निर्धारण कर लेती है। अँगरेजी में जिसे exalted state of mind (मन की उन्नत अवस्था) कहते हैं, राम की मानसिक स्थिति सर्वदा, सब समय वैसी ही रहती थी। उनकी प्रतिभा की विपुलता अपने आप में आबद्ध न होकर, प्रतिक्षण नाना रूपों में, नाना क्षेत्रों में, अपने को विस्तारित करने के लिये उन्मुख रहा करती थी। उसकी गति प्रतिक्षण वर्तमान को भेद कर सुदूर भविष्य की ओर प्रवाहित होती रहती थी। पति-पत्नी, पिता-पुत्र तथा भाई-भाई के बीच तुच्छ स्वार्थ की छीना-झपटी की अत्यंत हास्यकर तथा नीच प्रवृत्ति के प्राबल्य तथा विस्तृति की आशंका करके उन्होंने अत्यंत प्रसन्नता तथा वज्र-कठिन दृढ़ता के साथ महत् त्याग स्वीकार किया और अपने गृह में घन भूत स्वार्थ भाव को, त्याग के करुणा-

विगलित रस मे बहाकर, साफ़ कर दिया। उन्होंने पिता का प्रण निभाया, इस बात पर हमें उतनी श्रद्धा नहीं होती, जितनी इस बात पर विचार करने मे कि उन्होंने इन स्वार्थ-मग्न संसार के प्रतिदिन के व्यवहार की यवनिका भेदकर सुदूर अनन्त की ओर अपनी प्रतिभा की सुतीक्ष्ण दृष्टि प्रेरित की। उनकी इस इच्छा-शक्ति के वेग की प्रबलता के कारण ही हमें इतना आनन्द प्राप्त होता है, और हृदय बारंबार संभ्रम तथा श्रद्धा के साथ उनके पैरों तले पतित होना चाहता है।

यदि कोरी नीति के आधार पर ही समस्त कार्यों का निर्धारण करना हो, तो राम का वन-गमन अनीति-मूलक भी कहा जा सकता है। उनके वन-गमन मे उनकी प्रजा को कितना कष्ट उठाना पड़ा, इसका उल्लेख रामायण में ही है। उनके पिता की मृत्यु का कारण भी यही था। भरत को सुख-भोग की जगह तपस्या करनी पड़ी। यह सब परिणाम समझ कर ही राम वन गए थे। वन में उन्हें जाबालि मुनि मिले थे। जाबालि ने उनके वनवास को व्यर्थ साधना बतलाया। उन्होंने कहा कि "तुम्हारी इस साधना की कुछ भी उपयोगिता नहीं। तुम समझते हो कि पिता का प्रण निभाकर मैंने महत् कार्य किया है। पर यदि वास्तव में देखा जाय तो कौन किसका पिता है, कौन किसका भाई? जब तक जीवित रहना है, तब तक मौज करते चले जाओ, इस भस्मी-भूत देह का पुनरागमन कहाँ है? मरने के बाद कौन पिता है, और कौन पुत्र? केवल दुर्बल भावुकता के कारण ही तुमने वन-गमन स्वीकार किया है, और मोहांधता के कारण इस त्याग को तुम श्रेष्ठ आदर्श समझे बैठे हो।" यदि केवल नीति के ही पीछे लगा जाय, तो जाबालि की यह उक्ति वास्तव में यथार्थ जान पड़ती है। परलोक की कौन जानता है, इसी जीवन में प्रत्यक्ष में जो निश्चित लाभ होता है, चाणक्य की "यो ध्रुवाणि परित्यज्य" वाली नीति के अनुसार वही श्रेष्ठ है। और "आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि" वाली उक्ति से सभी परिचित हैं। अपना

स्वार्थ ही कोरी नीति की दृष्टि से, सब से बड़ी बात है। पर हम पहले ही कह आए हैं कि प्रबल प्रतिभा का संप्लवन (overflow) नैतिक तथा नैयायिक उक्तियों को ग्रहण नहीं करता। अकारण ही अपने को प्लावित करने में उसे आनन्द मिलता है। राम जानते थे कि उनके वन-वास की कोई सार्थकता नहीं है; पर उनकी प्रतिभा ने यही दिखलाना चाहा कि उनकी आत्मा अनन्त की विपुलता से पागल है, और अपने क्षुद्र परिवेष्टन के भीतर बन्द नहीं रहना चाहती। आत्म-प्रकाश का आनन्द इसे ही कहते हैं। यदि नैतिक उपयोगिता का विचार करके उन्होंने वन-गमन किया होता, तो यह घटना आज मानव-हृदय को करुणा से इतना द्रवीभूत न करती। कवि के तीव्र आत्मानुभव तथा उसकी कल्पना की वास्तविकता का परिचय हमें यहीं पर मिलता है।

यदि नीति की छोटी मोटी बातों पर ध्यान देना आवश्यक होता, तो आज महाभारत के समान विपुल काव्य से वंचित रहते। कवि को बात-बात पर सफ़ाई देनी होती कि द्रौपदी के पांच पति क्यों थे? वेदव्यास-जैसे महात्मा का जन्म घृणित व्यभिचार से क्यों हुआ। धृतराष्ट्र और पांडु क्षेत्रज पुत्र होने पर भी महाशाली क्यों हुए। कुन्ती कौमार्यावस्था में ही गर्भवती होने पर भी पांडवों की सर्व-जन प्रशंसिता माता क्यों हुई? सूर्य की दुहाई देना वृथा है; विवेचक पाठक जानते हैं कि सूर्य के समान किसी तेजस्वी पुरुष के औरत से ही कर्ण का जन्म हुआ था—सूर्य रूपक-मात्र है) ऐसे असंख्य उदाहरण दिए जा सकते हैं। पर महाभारतकार की कलम लेश-मात्र भी इन कारणों से नहीं हिचकी। कारण स्पष्ट है। कवि वही दिखलाना चाहता है कि इन तुच्छ नैतिक उल्लंघनों से उसके महत् आदर्श पर किञ्चिन्मात्र भी आँच नहीं आ सकती। इस संम्बन्ध में हम विस्तृत रूप से आगे किसी लेख में विचार करेंगे। यहाँ पर हम केवल यह दिखलाना चाहते हैं कि कला या आदर्श नीति से बहुत ऊपर उठा हुआ होता है।

कालिदास का मेघदूत क्या नीति सिखाता है? विरह-जन्य आनन्द की इस रचना का लक्ष्य यदि नीति की ओर होता, तो वह असह्य हो उठती। अलकापुरी के जिस आनन्दमय देश की ओर कवि हमें आकर्षित करके ले चलता है, उसके सम्बन्ध में हमारे मन में यह प्रश्न बिलकुल ही नहीं उठता कि वहाँ जाकर क्या होगा? किसी नैतिक लाभ के लिये हम अलकापुरी नहीं जाते; हम जाते हैं आनन्द की विपुलता अनुभव करने के लिये। वहाँ जिस आनन्द का हम अनुभव करते हैं, वह तुच्छ सुख-दुःख, क्षुधा-तृष्णा तथा पाप-पुण्य के अतीत है।

केवल हमारे ही देश में नहीं, पाश्चात्य देशों में भी बहुत से लोग नीति के उपासक हैं। ग्येटे की रचनाओं में नीति की अवहेलना देखकर कई लोग उन पर बरस पड़े हैं। शेक्सपीयर के नाटकों में से कई समालोचक अपने इच्छानुसार नीति निकालने में व्यस्त रहते हैं। प्रकृति के सच्चे उपासक, प्रसिद्ध फ्रांसीसी चित्रकार मिले (Millet) की कला के बहुत से आलोचकों ने उसकी राजनीतिक व्याख्या करने की चेष्टा की थी। वह बात इस प्रकृति के चतुर चितेरे को बहुत बुरी लगी। प्रसिद्ध क्रांतिकारी प्रूधों (Proudhon) ने उसे, चित्रों के ज़रिए राजनीतिक प्रश्न हल करने से लिये उसकाया, पर वह इस अयुक्त प्रस्ताव पर सम्मत नहीं हुआ। इससे यह न समझना चाहिए कि वह देशद्रोही था। राजनीति से देश-प्रेम का कोई सम्बन्ध नहीं। सहज प्रेम के साथ नीति का क्या सम्बन्ध हो सकता है? मिले स्वयं कृषक के पुत्र था, और किसानो के प्रति उसकी इतनी सहानुभूति थी कि उसके प्रायः सभी चित्रों से कृषक-जीवन की सरलता का सुमधुर परिचय मिलता है। उसके चित्रों की सरलता से मानवात्मा की यातनाओं का आभास अत्यंत सुन्दर रूप से आँखों में झलकता है, और हृदय में किसानों के प्रति आन्तरिक सहानुभूति उमड़ी पड़ती है। पर उसका उद्देश्य किसानों की दुर्दशा का चित्र खींचकर तात्कालिक साम्यवाद की राजनीतिक महत्ता

'प्रचार' करने का नहीं था। यही कारण है कि उनके चित्रों ने अमरत्व प्राप्त कर लिया है।

महाकवि ग्येटे को जर्मनी के कई समालोचकों ने इस बात के लिये कोसा था कि वे सदा राजनीति से विमुख रहे हैं। इस पर उन्होंने लूडेन से कहा था—"जर्मनी मुझे प्राणों से प्यारा है। मुझे बहुधा इस बात पर दुःख होता है कि जर्मन लोग व्यक्तिगत रूप से इतने उन्नत होने पर भी समष्टि के विचार से इतने ओछे हैं। अन्य जाति के लोगों के साथ जर्मन लोगों की तुलना करने से हृदय में व्यथा का भाव उत्पन्न होता है, और इस भाव को मैं किसी भी उपाय से भूलना चाहता हूँ। कला और विज्ञान में मैं इस व्यथाजनक भाव से त्राण पाता हूँ, क्योंकि उनका सम्बन्ध समस्त विश्व से है, और उनके आगे राष्ट्रीयता की सीमा तिरोहित हो जाती है।" पाठकों को मालूम होगा कि रवीन्द्रनाथ का भी यही मत है। ग्येटे ने किसी अन्य स्थान पर कहा है—"सत्य की इस सरल उक्ति पर लोग विश्वास नहीं करना चाहते कि कला का एक-मात्र उन्नत ध्येय उच्च भाव को प्रतिबिम्बित करना है।" इङ्गलैंड के प्रसिद्ध साहित्यालोचक कर्लाइल जब एक बार बर्लिन गए थे, तो किसी भोज के अवसर पर कुछ लोगों ने ग्येटे पर यह दोष लगाना आरम्भ किया कि इतने बड़े प्रतिभाशाली कवि होने पर भी उन्होंने धर्मसम्बन्धी बातों की अवहेलना की है। कार्लाइल ने उनकी संकीर्णता से कुढ़कर कहा—"Meine Herren, did you never hear the story of that man who vilified the sun because it would not light his cigar?" "महाशयो! क्या आपने कभी उस नाम की कहानी नहीं सुनी जो सूर्य को इस कारण कोसता था कि वह उनकी चुरट जलाने के काम नहीं आता?" यह मुँहतोड़ जवाब सुनकर किसी के मुँह से एक शब्द न निकला!

सभी जानते हैं कि रूसो नीति के कितने पक्षपाती थे। पर जब वह

कला की रचना करने बैठते थे, तब नीति-रीति सब भूल जाते थे। उनके प्रसिद्ध उपन्यास La Nouvelle Heloise में उनके हृदय की क्षुब्ध वेदना प्रतिबिंबित हुई है। उसके इस आत्म-प्रकाश की मनोहरता के कारण ही यह ग्रंथ इतना आदरणीय है। सच्चा कलाविद् हृदय की प्रेरणा से ही चित्र खींचता है, न कि बाह्य आवश्यकता के अनुसार !

टाल्सटाय को नीति की छोटी-छोटी बातों का भी बड़ा ख्याल रहता था। यहां तक कि अपने 'What is Art ?' शीर्षक पुस्तक में उन्होंने अनीति-मूलक ग्रन्थों की तीव्र निन्दा करके यह मत प्रतिष्ठित किया है कि कला के भीतर नीति का होना परमावश्यक है। उन्होंने जिस समय यह मत प्रचारित किया था, उस समय उन्होंने यह भी लिखा था कि "मेरी इस समय से पहले की रचनाएँ दोष-पूर्ण समझी जानी चाहिए।" पर उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास अन्ना कैरेनिना इसके बाद लिखा गया था। इसके प्रकाशित होने पर लोगों को यह आशंका हुई थी कि उसमें नीति भरी पड़ी होगी। पर उनकी यह आशंका निर्मूल निकली। टाल्सटाय सच्चे कलाविद् तथा शिल्पी थे। उनका व्यक्तिगत मत चाहे कुछ भी रहा हो, पर उनकी आत्मा में कवि स्वभाव का राज होने के कारण कला की रचना में वह नीति की संकीर्णता घुसेड़कर कला के आदेश को खर्च नहीं कर सकते थे। 'अन्ना कैरेनिना' में किटी के गार्हस्थ्य-जीवन की शांत, सुखमय छवि अवश्य हृदय को आराम पहुँचाती है, पर अभागिनी अन्ना के संघर्षण-क्लिष्ट, 'दुर्नीति-मूलक', जीवन के प्रति प्रत्येक पाठक की आंतरिक समवेदना उमड़ी पड़ती है। और तो क्या, स्वयं ग्रन्थकार ने, अपनी इच्छा के प्रतिकूल, अपने अनजान में, अंत तक अन्ना के जीवन की 'ट्रेजेडी' के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की है। आरम्भ में ग्रन्थकार का प्रकट हृदय किटी के गार्हस्थ तथा नीति-अनुमोदित

जीवन की स्निग्धता और अन्ना के जटिल तथा नीति विरुद्ध जीवन के बीच अंतर प्रदर्शित करके एक निश्चित नैतिक सिद्धांत प्रतिष्ठित करने का रहा है। पर थोड़ी ही दूर जाकर, दुःखिनी अन्ना के उन्नत चरित्र की जटिलता का विचार करके, उसका यह उद्देश्य शिथिल हो जाता है, और अंत को जाकर मानव-चरित्र की अन्तर्गत दुर्बलता की समस्या का कोई समाधान ही कवि नहीं कर ने पाया है। कहाँ वह कठिन नीतिज्ञ का निष्ठुर दंड लेकर 'दुर्नीति' को शासित करने चला था, कहाँ शासित व्यक्ति के साथ मानवत्व के समान सूत्र में ग्रथित होकर उसे भी रोना पड़ा है! सच्चे कलाविद् की श्रेष्ठता का प्रमाण इसी से मिलता है। वह अपने प्राणों की प्रेरणा से चरित्र चित्रित करता है, और अपने प्राणों ही में वह उन चरित्रों की यातनाओं का अनुभव करता है। धर्मध्वजी लेखक की तरह, अपने चरित्रों से अपने को बिलकुल अलग समझकर वह शासक नहीं बनना चाहता।

जहाँ किसी नीति को प्रतिष्ठित करना ही लेखक का मूल उद्देश्य रहता है, वहाँ वह संकीर्णता का प्रचार करता है; पर जहाँ सत्य, सौंदर्य तथा मंगल से पूर्ण स्वाभाविक छवि चित्रित करके ही चित्रकार अपना काम पूरा हुआ समझता है, वहाँ उस आदर्शमय चित्र की स्वाभाविक सरलता हृदय को उन्नत बनाने में सहायक होती है।

नवम्बर—१९२७

काव्य में अस्पष्टता तथा रूपक-रस

आधुनिक हिन्दी कविता की आलोचना करते हुए हाल में हिन्दी के एक प्रतिष्ठित साहित्यिक ने कहा था कि श्रेष्ठ कविता वह समझी जानी चाहिए जो पढ़ते ही समझ में आ जाय और जिसका रस लेने में बुद्धि का व्यय बिलकुल न करना पड़े। हमारे साहित्य के दुर्भाग्य से ऐसे साहित्यालोचक अभी तक वर्तमान हैं, जो कविता को अंगूर का दाना या रसगुल्ला समझते हैं कि मुँह में डालते ही उसकी मिठास का स्वाद लेकर आनन्द प्राप्त करें। कविता को तात्कालिक आनन्द की सामग्री समझने वाले, क्षणिक विनोद के इन उपासकों को मालूम होना चाहिए कि वास्तविक कविता का रस कवि के जीवन-व्यापी आत्म-निर्पीड़न द्वारा प्राप्त होता है। वह आत्मा के अतलतम प्रदेश से निःसृत रस है, जिसे आप साधारण अंगूरी रस की तरह एक घूँट में गटक कर परम तृप्ति से 'वाह' कहकर निःशेष नहीं कर सकते। इस आध्यात्मिक रसायन के पान के अधिकारी सभी ऐरे-गैरे नहीं हो सकते। इसके लिए साधना की आवश्यकता है।

लोग कहते हैं कि कविता एकदम स्पष्ट होनी चाहिए। मैं कहना चाहता हूँ कि श्रेष्ठ कविता का पहला गुण अस्पष्टता है। इस वस्तु जगत की स्पष्ट तथा व्यक्त बातों को अस्पष्ट तथा अव्यक्त रूप प्रदान करने के लिए ही कविता की सृष्टि हुई है, अन्यथा उसका कोई उद्देश्य

नहीं रह जाता। यदि स्पष्ट ही बात कहनी है तो कविता की आवश्यकता ही क्या है? साधारण गद्य की सरल भाषा में वह और भी अच्छी तरह से कही जा सकती है।

मानवात्मा रात-दिन के व्यावहारिक तथा लौकिक विषयों को उनके प्रत्यक्ष, नग्न तथा व्यक्त रूप में ही परम सत्य के तौर पर मानने के लिए क़तई तैयार नहीं है। वह अनुभव करती है कि वस्तु-जगत् के व्यक्त रूप के भीतर जो अव्यक्त स्वरूप अपनी सूक्ष्म इन्द्रजाली माया विस्तारित किये हुए है वही वास्तविक सत्य है। विख्यात जर्मन दार्शनिक फ़िक्टे ने कहा है कि इस दृश्य-जगत् की आड़ में जो एक स्वर्गीय छाया की माया प्रतिक्षण नाना रूपों तथा रसों के साथ विहरण किया करती है, वही वास्तविक सत्य है। कार्लाइल ने भी अपनी एक प्रसिद्ध पुस्तक में कवि तथा कविता की आलोचना करते हुए फ़िक्टे की इसी उक्ति का उल्लेख किया है। प्रत्येक श्रेष्ठ-कला का उद्देश्य इसी अव्यक्त छाया को नाना रङ्गों तथा रसों के साथ व्यक्त करने का रहता है।

हमारे यहाँ मसल मशहूर है कि दूर के ढोल सुहावने लगते हैं। इस उक्ति को वास्तविक जगत् के अनुभवों से सुपरिचित लोग कल्पना लोक में विचरने वाले जीवों के रङ्गीन स्वप्नों को तुच्छ करने के लिए काम में लाते हैं। इस कथन का यथार्थ तात्पर्य यह है कि ढोलों का शब्द वास्तव में विकट और कर्णकटु होता है, पर जब वे दूर में बजते हुए सुनायी देते हैं तो भ्रमवश मधुर तथा मनोहर मालूम होते हैं। मैं यहाँ पर अनुभवी विज्ञजनों से यह प्रश्न करने की धृष्टता करना चाहता हूँ कि ढोल के निकट बजने को आप वास्तविक क्यों मान लेते हैं और दूर बजने को अवास्तविक क्यों कहते हैं? यह आप कैसे कह सकते हैं कि निकट ही एकमात्र सत्य है और दूर असत्य? यदि निकट सत्य है तो निकट में हम पृथ्वी को चपटी देखते हैं और उसकी सीमा

सामने के पेड़ों तक समाप्त हो जाती है, क्योंकि हमारी आँखें एक दृष्टि से उसके आगे नहीं देख सकतीं। पर आप कहते हैं कि पृथ्वी गोल है और उसका क्षेत्र सामने के पेड़ों से बहुत आगे तक विस्तृत है। अब बतलाइये, कौन सी बात सच मानी जाय? इसीलिए मैं कहना चाहता हूँ कि दूर के ढोलों का शब्द मेरे लिए निकट के ढोलों से अधिक वास्तविक है। यह इसलिए कि दूर बजने में ढोलों का सम्मिलित शब्द एक ऐसा सुमधुर सांगीतिक सामञ्जस्य उत्पन्न करता है जो आपकी आत्मा को वस्तु-जगत् की झूठी वास्तविकता के भीतर छिपे हुए मूल सत्य से परिचित कराता है।

आप दस-पाँच पेड़ों के अत्यन्त निकट खड़े हैं और उनकी डाली-डाली और पत्ती-पत्ती देख रहे हैं। उन्हें देखकर कोई भी काव्यमय या चित्रमय भाव आपके मन में उत्पन्न नहीं होता। वहाँ से हटकर आधे मील की दूरी से आप उन्हें देखते हैं तो एक अपूर्व छाया की माया आपके मन में लहराने लगती है। यदि आप इस माया को भ्रामक तथा अवास्तविक कहना चाहें तो यह आपकी ज्यादती है। यन्त्र विशेष से यदि आप किसी सुन्दर पुरुष या स्त्री का मुख देखें तो आपको उसके चर्मावरण में सहस्रों छिद्रों से बना हुआ उसका विकट रूप दिखाई देगा। ये छिद्र कृत्रिम नहीं, वास्तव में मुख पर वर्तमान रहते हैं। यदि आप निकटतम दृष्टि से वास्तविकता पर विचार करना चाहें तो यन्त्र से दिखाई देने वाली इस विकटाकृति को ही आपको परम सत्य के तौर पर मानना चाहिए। पर आप ऐसा मानने के लिए तैयार नहीं हैं।

असल बात यह है कि प्रकृति स्वयं हमारी आँखों में मनोमोहकता का झीना पर्दा डालकर वस्तु-जगत् को काव्यजगत् के रूप में रखना चाहती है। यही कारण है कि आकाश के तारे अपने तरलाभास से हमारी आँखों में स्निग्धता बरसाते हैं और अपनी करुण किरणों के

विकीरण से पुलक-व्याकुलता सरसाते हैं। यदि वे अपने वास्तविक रूप में प्रकट होते तो अपनी प्रचण्ड अग्नि की रुद्रज्वाला से पल में प्रलय उपस्थित कर देते। पर प्रकृति उन प्रलयाग्नि के महागोलों को ऐसे स्निग्धोज्ज्वल हीरक-खण्डों के रूप में हमारे नेत्रों में झलकाती है कि हम मुग्ध होकर आनन्द-जनित विस्मय प्रकट करते हुए कहते हैं—

Twinkle, twinkle, little star !
How I wonder, what you are !

पर इसका यह अर्थ नहीं कि जिस रूप में वे हमारे सामने व्यक्त होते हैं, वह अवास्तविक है। वास्तविकता एक सापेक्ष (Relative) शब्दवाच्य है। वस्तु एक ही होती है, पर देश और काल के अन्तर से वही हमें भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देने लगती है। कवि प्रकृति की ही तरह वस्तुओं को ऐसे 'फोकस' में 'सेट' करता है कि वह हमें सुसामञ्जस्ययुक्त तथा साथ ही सुन्दर दिखायी दे। कवि की मानसिक अवस्था किसी विशेष कविता की रचना के समय जिस विशेष देश तथा काल में स्थित रहती है, यदि हम भी अपने मन को उसी रूप में न बाँध सकें तो हमें अवश्य ही उसकी कृति अस्पष्ट तथा अर्थहीन मालूम पड़ेगी। स्पष्टता तथा अस्पष्टता का झगड़ा यहीं खड़ा होता है।

बिजली का केवल वही रूप सत्य नहीं जो वज्र की तरह कड़क कर हमारे सर पर बोलता है; उसका वह रूप भी उतना ही सत्य है जो मेघदूत के मेघ के स्निग्ध गम्भीर घोष से दामिनी की मनोहर दमक में व्यक्त होता है।

साधारणतः लोगों में यह भ्रान्त धारणा फैली हुई पाई जाती है कि कविता का एकमात्र उद्देश्य हृदय की विभिन्न अनुभूतियों में चेतनता उत्पन्न करने का है। इसमें सन्देह नहीं कि हृदय के भावोद्वेगों को उभाड़ने वाली और अपनी मार्मिकता से हृदय के तारों में झनकार

उत्पन्न करने वाली कविता अपना निजी विशेषत्व रखती है। ऐसी कविता मर्मस्पर्शी होने के साथ ही स्पष्ट तथा सरल भी होती है। पर कविता का क्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं है। एक विशेष प्रकार की कविता होती है जो कवि की आत्मा के अन्ततम प्रदेश से प्रसूत होकर स्वतः बिना किसी कृत्रिम चेष्टा के स्वप्नों के ताने-बाने से ठीक उसी प्रकार रहस्यमय इन्द्रजाल का सृजन करती है जिस प्रकार प्रकृति अपने अज्ञात, अतल केन्द्र से सृष्टि-व्यापिनी माया का छायामय बितान तानती जाती है। कवि की प्रतिभा प्रकृति की ही तरह अज्ञात तथा स्वतः-प्रसूत होती है।

प्रत्येक उच्चकोटि की कविता में कवि की आत्मा की निगूढ़तम आकांक्षाओं का आभास स्वप्नों के रूप में झलकता है। पर स्वप्न एक ऐसी माया है जो कभी स्पष्ट हो ही नहीं सकती, इस बात का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को अपने रात-दिन के स्वप्नों से हो सकता है। पर कोई भी स्वप्न प्रकट में कैसा ही ऊटपटाँग तथा अस्पष्ट क्यों न जान पड़े, किन्तु वास्तव में उसकी प्रत्येक घटना ज्वलन्त सत्य से धड़कती रहती है। यह बात फ्रायड के समान मनस्तत्व-विश्लेषकों ने अच्छी तरह सिद्ध करके दिखा दी है। आज तक स्वप्नों के सम्बन्ध में जनता में कई प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ पाई जाती थीं। अन्ध-विश्वासी लोग उन्हें भविष्यवाणियों के रूप में ग्रहण करते हैं। अन्ध-विश्वासों को ठुकराने वाले विज्ञानवादी उन्हें आज तक अर्थहीन मनोविकार कहकर उड़ा दिया करते थे। पर फ्रायड इन दोनों सिद्धान्तों को नहीं मानता। उसका कहना है कि प्रत्येक स्वप्न में हम अपनी अज्ञात चेतना में छिपी हुई अव्यक्त, अज्ञात आकांक्षाओं की चरितार्थता का सुख अथवा दुःख प्राप्त करते हैं—पर प्रकट तथा स्पष्ट रूप में नहीं, अस्पष्ट तथा साङ्केतिक रूप में। फ्रायड का कथन है कि स्वप्न कैसा ही विकृत और अर्थहीन

क्यों न जान पड़े, उसकी प्रत्येक असम्बद्ध तथा असङ्गत घटना विशेष अर्थ रखती है, पर सांकेतिक रूप में। अर्थात् प्रत्येक स्वप्न हमारी निगूढ़ आकांक्षाओं का रूपक है। इसी प्रकार एक विशेष श्रेणी की कविताएँ ऐसी होती हैं जो कवियों की अन्तश्चेतना में जागरित होने-वाली अज्ञात आकांक्षाओं को स्वप्नों के आकार में वेष बदल कर साङ्केतिक रूप में अपने को व्यक्त करती हैं। कवि की अन्तरात्मा नहीं चाहती कि वह अपनी अज्ञात आकांक्षाओं को नग्न रूप में, लज्जारहित अवस्था में अभिव्यञ्जित करे। इसलिए वह नाना रङ्गीन आवरणों, नाना रूपकों का सृजन करके इन्द्रजालमय चालों से उन्हें ढककर हमारे सामने रखता है। उसकी अज्ञात चेतना जानती है कि नग्नता और स्पष्टता सौन्दर्य के मूल रस को नष्ट कर देती हैं, इस कारण उसे मनोमोहक बनाने के लिए छायामय माया के रङ्गीन जाल का आवरण निर्मित होना आवश्यक है। आजकल के जो बने हुए वस्तुतन्त्रवादी (Psuedo-realists) नग्न रूप में चित्रित की गयी यथार्थता को ही कला की चरम श्रेष्ठता मानते हैं, उनकी अज्ञात चेतना विकृत हो चुकी है, यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है।

प्रकृति के मूल केन्द्र में सृष्टि की निगूढ़ वासनामयी प्रवृत्ति के जो बीज अव्यक्त रूप में छिपे हुए हैं वे अपने को आकाश के तारों, पृथ्वी के पत्र पुष्पों और हरी-भरी लताओं, वर्षा, शरत्-वसन्त आदि ऋतुओं की नव-नव हिल्लोलमयी धाराओं के रूप में प्रस्फुटित कर व्यक्त करते हैं—इन्हीं स्वप्नों के रूप में प्रकृति की अन्तरतम आकांक्षाएँ अभिरञ्जित होकर हमें आनन्द प्रदान करती हैं और प्रकृति आभ्यन्तरिक भार को हलका करती है। अर्थात् अपने अन्तश्चेतन को रूपक के रूप में व्यक्त करने की प्रवृत्ति मूल प्रकृति में ही वर्तमान है। यदि प्रकृति अपने को इस प्रकार रूपक के रूप में प्रकट न करती और

अपनी अन्तरात्मा को नग्न, निर्लज्ज रूप में व्यक्त करने के लिये उत्सुक होकर ढोंगी यथार्थवादियों का समर्थन करने पर उतारू हो जाती तो पृथ्वी में प्रतिक्षण ज्वालामुखियों का प्रचण्ड अग्नि उद्गीरण, समुद्र में प्रतिपल उत्ताल तरङ्ग मालाओं का भयङ्कर विस्फूर्जन; आकाश में निरन्तर मेघमालाओं का रुद्रकोपमय वज्र-वर्षण तथा नक्षत्रों के रूप में दिखाई देने वाले कोटि-कोटि महासूर्यों का अहरह प्रलयङ्कर ज्वालामय-संघर्षण दृष्टिगोचर होता, क्योंकि यही प्रकृति के भीतर का नग्न रूप है। इसमें सन्देह नहीं कि इस नग्न रूप को प्रकृति कभी कभी बीच-बीच में क्षणकाल के लिए अभिव्यक्त कर बैठती है। ऐसे अवसरों पर समझ लेना चाहिए कि उसकी अन्तश्चेतना में क्षणिक विकार उपस्थित हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह क्षणिक विकार भी कविता के रूप में (रौद्र रस के बतौर) परिणत किया जा सकता है, पर तभी जब वह प्रकृति के मूल सामञ्जस्य के संसर्ग में लाया जा सके।

पर विकार न होने पर भी, साधारण अवस्था में भी, जब कि प्रकृति सुन्दर स्वप्नों, नाना रसों तथा मनोहर दृश्यों के रूप में अपनी मूलात्मा को अभिव्यक्त करती है, उस समय, उसके भीतर मथन-क्रिया किसी न किसी रूप में जारी रहती है। यह स्वाभाविक है। जो क्रिया उसके स्वप्नों का सृजन करती है उसकी प्रतिक्रिया उसे अभ्यन्तर के एक सिरे से दूसरे सिरे तक आन्दोलित किये बिना रह नहीं सकती; हम उस आन्दोलन को भले ही न देख पावें।

प्रकृति के स्वप्न-सृजन के सम्बन्ध में जो बातें कही गयी हैं, वे ही बातें कवि के स्वप्न-सृजन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं, क्योंकि कवि की प्रतिभा की क्रिया भी प्रकृति की समान धारा में अज्ञात रूप में चला करती है। कवि जिन स्वप्नों को कविता में अङ्कित करता है उन्हें रचने में उसके अभ्यन्तर में भीषण संघर्षण-विघर्षण का मथन-चक्र

चलता है। उसे पाठक भले ही न देखें, पर वह कवि को संतुष्ट किये रहता है।

हम देख चुके हैं कि कवि के स्वप्न कविता के रूप में रूपक के बतौर स्फुटित होते हैं। यह रूपक-रस काव्य साहित्य में कोई नयी वस्तु नहीं है। प्राचीनतम काल से कविगण इस रस की धारा बहाते चले आये हैं। पौराणिक गाथाओं के कवि (प्राच्य तथा पाश्चात्य — सभी देशों में) इस रस की अजस्र धारा से साहित्य जगत् को आप्लुत कर गये हैं। कालिदास के मेघदूत में यह रस लबालब भरा हुआ है। यक्ष के विरह और वर्षा की वेदना के रूप में वज्रशाप की जड़ता, और चिरस्तब्ध मानवात्मा की चिर-मिलन-व्याकुलता व्यक्त करके अलका-पुरी रूपी चिरयौवन के चिदानन्दमय राज्य के शाश्वत सुख की प्राप्ति की ओर उसकी चिर-उत्सुकता का स्वरूप कालिदास ने अमर रूपक के रूप में वर्णित किया है। अठारहवीं तथा उन्नसवीं शताब्दियों के यूरो-पियन कवियों की कविताओं में रूपक-रस के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाया जाता। हमारे यहाँ वर्तमान युग में रवीन्द्रनाथ की कविता में यह रस जिस परिपूर्ण वेग से उमड़ा है वैसा शायद ही संसार के किसी अन्य कवि की कविता में सम्भव हुआ हो। वर्तमान हिन्दी कविता में भी हम उस रस को छलकते हुए देखते हैं। छायावादी कविता की विशेषता और महत्ता इसी बात पर है कि यह इस रूपक रस को अत्यंत मनोहर तथा मुग्धकर रूप में हमारे आगे रखने में समर्थ हुई है।

अपनी आत्मा के निपीड़न से सुन्दर रूपकमय स्वप्नों का सृजन करने वाले इन कवियों की कविताओं को 'अस्पष्ट' क़रार देकर उनकी अवज्ञा करने से काम नहीं चलेगा, बल्कि चेष्टा यह करनी होगी कि उन्हें समझने के लिए अपनी आत्मानुभूति द्वारा उनकी आत्मानुभूति की

कुञ्जी प्राप्त की जाय। कवि की कविता उसकी जीवन-कालव्यापी साधना का धन होती है। उसे एक चुटकी में उड़ा देना अथवा सरसरी निगाह से एक बार पढ़कर न समझ पाने पर उसे अस्पष्ट तथा अर्थहीन क़रार देना, कवि तथा कविता के प्रति घोर अन्याय करना है। विश्व-विद्यालयों में शेली, कीट्स, कालेरिज, वर्ड्सवर्थ आदि की कविताओं पर नोट पर नोट छात्रों को रटाये जाते हैं, तब भी छात्रगण उन्हें अच्छी तरह समझ नहीं पाते। यह होने पर भी किसी साहित्यालोचक ने यह नहीं कहा कि वे छायावादी और अर्थहीन हैं, तब बेचारी हिन्दी-कविता पर यह जुल्म क्यों? यह केवल अपनी मातृभाषा की विवशता का अनुचित लाभ उठाना है।

(१९३६)

भावुकता बनाम भावज्ञता

हमारे छायावादी साहित्य में कुछ आचार्यों तथा कुछ उदीयमान प्रतिभाशाली नवयुवक कवियों की कविताओं को छोड़कर शेष सब रचनाओं में कोरी छिछली भावुकता (जिसे अंगरेज़ी में Cheap sentimentalism कहते हैं) इस प्रकार सघनता से छाई हुई है जिस प्रकार एक छिछले तालाब के ऊपर सिवार छाई रहती है। मैं भावुकता के महत्व को खर्व नहीं करना चाहता, पर मेरी यह ध्रुव धारणा है कि जो भावुकता बुद्धि द्वारा सुसंयत और अनुशीलन द्वारा सुसंस्कृत नहीं होती वह या तो साहित्य की चिर-प्रगतिशील धारा में बह जायगी, या स्वयं एक बावड़ी के आबद्ध जल की तरह चिर-प्ररुद्ध होकर साहित्य के नन्दन कानन के मुक्त वातावरण के बीच में दुर्गन्धि फैलाने के सिवा और कुछ नहीं कर पावेगी।

भावुकता ऐसी नहीं होनी चाहिए कि साबुन के फेनिक बुद्बुदों की तरह वायु की तरंगों में कुछ समय के लिये उड़ान भरकर सदा के लिये विलीन हो जाय। उसका आधार निरी हवाई कल्पना नहीं, बल्कि कोई वास्तविक (Concrete) सत्य होना चाहिए। उसका मूल उद्गम आकाश की शून्यता नहीं, बल्कि अन्तर्प्राण की मार्मिक अनुभूति हो। अर्थात् कवि के लिए कोरा भावुक नहीं, बल्कि भावज्ञ होना आवश्यक है। भावज्ञता-रहित भावुकता कुछ समय के लिए भले ही

हृदय में मीठी वेदना उपजाने में समर्थ हो, पर उसका खोखलापन अन्त को प्रकट होकर रहता है। फ्रेंच और जर्मन साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने से इस बात का उदाहरण स्पष्ट हो जायगा।

रूसो के समय में फ्रेंच लोगों ने निरी भावुता के फेर में पड़कर उसके उद्दाम वेग को अत्यन्त उच्छृङ्खल बना दिया। रूसो की सुन्दर भावुकता में भावज्ञता की पुट रहने से उसका महत्व फिर भी किसी अंश तक स्थायी रहा। भावज्ञता का आधार किसी न किसी हद तक रहने से रूसो की भावुकता का अस्त्र कुछ समय तक अत्यन्त प्रखर तथा मर्म-भेदी बना रहा और पीछे भी किंचित् परिमाण में स्थिर रहा। पर जहाँ कहीं वह कोरी भावुकता के आवेग में तूफान की तरह बहता चला गया, वहाँ उसने अपने आपको भी धोखा दिया और दूसरों को भी भ्रमजाल में डाल दिया। इस प्रकार की निराधार भाव-प्रवणता का प्रभाव अधिक समय तक स्थायी न रह सका और शून्य में विलीन हो गया। जिन-जिन फ्रेंच लेखकों ने रूसो का अनुसरण किया (और ऐसे लेखकों की संख्या आवश्यकता से बहुत अधिक रही) वे भी आँधी की तरह आये और उसी तरह मिट भी गए। फ्रेंच साहित्य में एक मात्र विक्टर ह्यूगो ऐसा कवि रहा है जो भावज्ञता के रस में पूर्णतया सराबोर था। उसकी भावुकता उसकी भावज्ञता के सागर की अतल गहराई के ऊपर तैरने वाली फेनिल लहरियों के लोल लीला-लास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

बहुत लोगों की धारणा है कि फ्रेंच साहित्य संसार की अन्य सब भाषाओं के साहित्य से श्रेष्ठ है। यह लोगों का भ्रम है। यूरोपियन साहित्य के वास्तविक मर्मज्ञों ने कभी उसे विशेष महत्व नहीं दिया। ह्यूगो के अतिरिक्त फ्रांस का और कोई कवि-वर्ड्सवर्थ, कालेरिज, शेली, बायरन आदि अंगरेज़ कवियों तथा गेटे, हाइने आदि जर्मन कवियों की सुगम्भीर भावज्ञता-समन्वित कविता की समकक्षता कदापि न कर सका।

कारण यही है कि पूर्वोल्लिखित अंगरेज तथा जर्मन कवि कविता में जीवन की गहन मार्मिकता का दर्शन और जीवन में गम्भीर काव्यकला का प्रदर्शन किया करते थे और कल्पना की शून्य में लटकने वाले इन्द्रधनुष की वर्णच्छटा तथा धूप में निरुद्देश्य भटकने वाले बादलों के निस्सार रेशमी संसार तक ही सीमित नहीं रखते थे।

फ्रेंच साहित्य की तुलना में यदि जर्मन साहित्य को हम सामने रखें तो मालूम होगा कि उसकी धारा ही कुछ दूसरी है। आधुनिक जर्मन साहित्य का प्रारम्भ ग्येटे-युगसे होता है। ग्येटे अपनी सर्वप्रथम रचना 'वेर्टर' में भावुकता के प्रवाह में बह गया था। इस भावुकता का प्रभाव प्रारम्भ में बड़ा जबर्दस्त रहा और उसकी बाढ़ में बहुत से लेखक बह गये। पर यह प्रभाव स्वभावतः अधिक समय तक स्थायी न रह सका। ग्येटे शीघ्र ही अपनी भूल समझ गया। इसलिये उसकी परवर्ती रचनाओं में सत्वहीन भावुकता के बदले जीवन के वास्तविक तत्व से निचोड़े गए रस की ही प्रचुरता पाई जाती है, जिसकी चरम परिणति हम उसकी संसार-प्रसिद्ध रचना फ़ौस्ट में पाते हैं। केवल ग्येटे ही नहीं, शिलर, लैसिंग, हाइने आदि श्रेष्ठ जर्मन कलाकारों में हम यही विशेषता पाते हैं। जर्मनों ने मूल प्राणशक्ति को अपनाया और फ्रेंचों ने केवल हृदय की अस्थिर आवेगमयी प्रवृत्तियों का फूत्कार बाहर निकालने में ही अपनी सारी चेष्टा समाप्त कर दी।

रस सृष्टि करना ही साहित्य-कला का उद्देश्य है, सन्देह नहीं। मीठी भावुकता में भी एक विशेष रस है, इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। पर वह रस अंगूर, अनार और संतरे की तरह है जो आसानी से, बिना अधिक परिश्रम के निचोड़कर निकाला जा सकता है। ऐसा रस थोड़ी देर के लिए कलेजे को ठण्ढा कर सकता है, पर

नव-जीवन का उत्पादन नहीं कर सकता। जीवन की शक्ति का संचार करने वाला रस वही हो सकता है जो पारे तथा अन्यान्य धातुओं की तरह कठिन आंच में तपकर रस-सिन्दूर आदि के रूप में परिणत होता है; अर्थात्, जो भावज्ञता तथा जीवन की मार्मिक अनुभूति द्वारा परिपुष्ट होता है। श्रेष्ठ कलाकार एक प्रकार का रासायनिक है, जो जीवन के कठिन से कठिन तत्वों को भी अपनी आत्मा के रासायनिक यंत्र में परिपक्व करके अभिनव रस के रूप में परिणत कर देता है।

(१९३६)

छोटी कहानी की विशेषता

"निमेषे निमेष होये जाक् शेष
बहि निमेषेर काहिनी।"※ (रवींद्रनाथ)

आजकल हिंदी-साहित्य में छोटी कहानियों का बोलबाला है। बिना कहानियों के मासिक पत्रों की गुज़र नहीं। पर सत्साहित्य के नाम से कथा-साहित्य का जिस प्रकार सत्यानाश किया जा रहा है, उसे देखकर आंतरिक दुःख होता है। अगर एक लेखक कोरे मनोरंजन के लिये कोई कहानी लिखता है, तो दूसरा लेखक कोरी तत्वालोचना में अपनी शक्ति का अपव्यय करता है। कहानी का उद्देश्य इन दोनों ही के ऊपर है। मनुष्य के हृदय पट में अनेकानेक सुख-दुःखों का चक्र प्रतिक्षण धूप छाँह का-सा खेल खेलता रहता है। इस धूप-छाँह का चित्र यथार्थ रूप से अंकित करके उसे अपने हृदय के सुन्दर रङ्गों से रंजित करना ही सच्चे कलाविद् का उद्देश्य रहता है। कहानी का उद्देश्य न तो मनोरञ्जन ही है, और न शिक्षा ही। उसका उद्देश्य है स्वाभाविक रीति से सौंदर्य और आनन्द को प्रतिफलित करना। हृदय के भाव नाना अवस्थाओं में बदलते रहते हैं। जीवन का चक्र नाना परिस्थितियों के संघर्षण से उलटा सीधा चलता रहता है। इस सुवृहत् चक्र की किसी विशेष परिस्थिति की क्षणिक गति को प्रदर्शित करने—हृदय के भावों की किसी विशेष अवस्था के रङ्गों को रञ्जित करने में ही कहानी की विशेषता है। संसार में प्रत्येक पल की कहानी उसी पल

※ प्रत्येक पल प्रतिपल की कहानी वहन करता हुआ अपने आप में विलीन हो जाय !

में समाप्त होकर अनंत के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा में है। छोटी कहानी में पल की यही क्षणिक गाथा वर्णित की जाती है। जिस मानसिक स्थिति से प्रणोदित होकर रवीन्द्रनाथ लिखते हैं—

शुधु अकारण पुलके
क्षणिकेर गान गारे आजि प्राण
क्षणिक दिनेर आलोके !*

उसी मानसिक स्थिति की प्रेरणा से कवि छोटी कहानी लिखने को तत्पर होता है। "क्षणिक का गीत" यद्यपि प्रत्यक्ष में अस्थायी होता है, तथापि परोक्ष में वह अनन्त के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। प्रत्येक पल की कहानी प्रत्येक पल में समाप्त होने पर भी अपने-आपमें पूर्ण है। इसलिये वह उपेक्षणीय नहीं है। पूर्णस्य पूर्ण-मादाय पूर्णमेवावशिष्यते। पूर्ण से पूर्ण ले लेने से पूर्ण ही शेष रहता है। जिस प्रकार सृष्टि के प्रत्येक परमाणु के भीतर भी सौर-चक्र वर्तमान होने से वह अपने-आपमें पूर्ण है, उसी प्रकार प्रत्येक निमेष की कहानी भी।

बिना किसी कारण के पुलकित होकर कवि यह जो छोटी कहानी लिखने बैठता है, यह क्या केवल सुख की रचना है, दुःख की नहीं? पुलक का संचार क्या केवल सुख ही के कारण होता है? नहीं, दुःख की घटना भी अपने अदृश्य रस से कवि को पुलकित करने में समर्थ होती है। अगर ऐसा न होता, तो ट्रेजेडी का कला में कोई स्थान ही न होता, और करुणा-रस निरर्थक होता। हमारे कवि ने करुण-रस को सब रसों का सरताज माना है—

एको रसः करुणमेव नि मत्तभेदाद्,
भिन्नः पृथक् पृथगिव श्रयते विवर्त्तान्।

*अकारण पुलकित होकर, हे प्राण, तुम दिन के क्षणिक आलोक में क्षणिक की गीत गाओ!

एक ही करुण-रस, अवस्था के भेद से, नाना रसों के रूप में प्रकाशित होता है। दुःख में भी एक प्रकार का माधुर्य भरा है। जो व्यक्ति सुख में लिप्त नहीं रहता, वह दुःख में भी निर्विकार रहता है, और इसी कारण दोनों का रस ग्रहण करने में समर्थ होता है। रुद्र को सृष्टि और प्रलय के भीषण तांडव नृत्य में इतना आनन्द क्यों प्राप्त होता है? कारण, वह इन अवस्थाओं में से किसी में भी लिप्त नहीं हैं, केवल ऊपर-ही ऊपर से उनका रस ले लेते हैं। जब तक कवि दुःख के रस में पूरी तरह डूब कर उसमें से बेदाग़ बाहर नहीं निकल आता, तब तक वह अच्छी कहानी या कविता लिखने में समर्थ नहीं हो सकता। यह रस ऐसा है कि जिसमें—

अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग।

इसमें एक बार सबको डूबना पड़ता है। जो डूबा रह जाता है, वह गया। जो पूर्णतः डूबकर बाहर निकल आता है, वही कवि है वही ज्ञानी है, वही दार्शनिक है, और सब पाखण्डी हैं। जिनकी रग-रग रस से ओत-प्रोत नहीं है, वे लोग अगर कोई कहानी या कविता लिखते हैं, तो वे Literary Parasites (साहित्यिक-गलग्रह) के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। जब तक कवि दुःख में डूबा हुआ रहता है, तब तक वह जो भी रस पिलाता है, वह कड़वा होता है। पर जब दुःख का रस उसकी आत्मा से छनकर निकलता है, तब उसका स्वाद ही अनिर्वचनीय हो जाता है।

प्रतिदिन के सुख-दुःख का रस ही जीवन का रस है। इस रस के आगे कोई भी तत्व नहीं ठहर सकता। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मानव-जीवन का रस मनोरंजन और तत्व; इन दोनों के परे है। पर इसके यह मानी नहीं कि वह आदर्शहीन है। नहीं, यह आदर्श से पूर्ण है। उसके आदर्श हैं सौंदर्य और सामंजस्य। यहाँ पर जिज्ञासु पाठक यह प्रश्न कर सकते हैं कि सौंदर्य और सामंजस्य ही जब छोटी कहानी

के आदर्श हैं, तो उससे पढ़नेवालों की और समाज को फ़ायदा क्या हुआ ? इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि सौंदर्य के स्वाभाविक सामंजस्य की परिणति मानव-चरित्र को उन्नत बनाने में जितनी सहायता कर सकती है, उतना कोई 'शिक्षाप्रद' कहानी नहीं। अपनी बात मैं दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करना चाहता हूँ। मान लीजिए, कोई स्त्री विधवा है, और मायके में आकर रहती है। वहाँ वह गार्हस्थ्य जीवन के धन्धों में लगी है। यदि वह रूपवती होगी, तो अवश्य ही किसी कहानी लेखक की नज़रों में आ जायगी। मान लीजिए, दो कहानी लेखकों की शुभ दृष्टि उस पर पड़ी है। यह भी फ़र्ज कर लीजिए, कि उनमें से एक कहानी-लेखक 'शिक्षा-प्रद' कहानियाँ लिखना पसन्द करता है, और दूसरा स्वाभाविकता का पक्षपाती है। इत्तिफ़ाक से शिक्षा पसन्द कहानी-लेखक से किसी सम्पादक ने अपने पत्र के 'विधवांक' के लिये कोई कहानी लिखने की प्रार्थना की। अब वह लेखक सम्पादक का आशय समझकर उस विधवा के सम्बन्ध में अवश्य ही ऐसी कल्पना करेगा कि या तो वह वैधव्य-यंत्रणा न सह सकने के कारण कुलटा बन गई है, या इतनी बड़ी सती है कि कितने ही मुग्ध प्रेमियों की प्रेम याचना को तिरस्कृत करके धर्म-कर्म में लगी है, और तुलसी-कृत रामायण की अनसूया की तरह अन्य स्त्रियों को सतीत्व का उपदेश दे रही है। कहना नहीं होगा कि यह कहानी पाने से सम्पादक महोदय पुलकित हो उठेंगे, और अपने 'विधवांक' को कृतार्थ समझेंगे। दोनों प्रकार के चित्रों से समाज को 'शिक्षा' मिलेगी। पहली कल्पना से समाज की दुर्दशा पर प्रकाश पड़ेगा, और दूसरी कल्पना से हिन्दू विधवा का महान् आदर्श जनता में प्रतिष्ठित होगा। इसलिये शिक्षा पसन्द आर्टिस्ट महाशय अवश्य ही पाठक और सम्पादक समाज के धन्यवाद के पात्र होंगे, इसमें संदेह नहीं।

पर दूसरा लेखक कभी संपादक, समालोचक और पाठक की माँग

के अनुसार कहानी नहीं लिखेगा। वह लिखेगा अपने हृदय की प्रेरणा से। वह संभवतः उस विधवा सुन्दरी के वास्तविक जीवन के प्रति दृष्टि रखकर उसके सम्बन्ध में यह कल्पना करेगा कि वह अपने वैधव्य के असहनीय दुःख की ज्वाला को अपने हृदय में शांतभाव से वहन करती हुई, अपने माता-पिता; भाई-बहन और बहू-भाभियों पर अपने स्निग्ध हृदय का सुमंगल स्नेह बरसाती हुई, अविच्छिन्न रूप से, अविराम गति से घर के धन्धों में लगी हुई है; न किसी को कोई उपदेश देती है, न किसी का कोई उपदेश सुनती है; अपने हृदय की प्रचंड अग्नि को अपने ही हृदय की राख से ढके है; किसी से अपने दुःख की शिकायत नहीं करती—केवल अनन्त की प्रतीक्षा में है, और अनन्त के लिये ही अपने जीवन का दीपक जलाए बैठी है, इस कर्म-निरता देवी, इस अज्ञात तपस्विनी के जीवन की स्वाभाविक स्निग्ध छवि की एक झलक यदि वह लेखक अपनी छोटी कहानी में दिखा सके, तो इसकी स्निग्धता का जो प्रभाव पाठकों के हृदयों पर उनके चरित्र पर—पड़ेगा, वह क्या कभी शिक्षाप्रद कहानी-लेखक की रचना से पड़ सकता है ? सौंदर्य अपने-आप में पूर्ण है। उसे किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं। सौंदर्य की स्वाभाविकता मनुष्य को अपकर्मों से बचाने में जितनी सहायक होती है, उतनी कोई शिक्षा नहीं हो सकती। ग्येटे ने अपने फौस्ट 'नामक' नाटक में दिखलाया है कि फौस्ट संसार के दुःखों से ऊबकर ज़हर का प्याला हाथ में लेकर मुँह में डालना ही चाहता है कि अचानक बाहर सुमधुर संगीत का शब्द सुनकर, किसी अनिर्वचनीय महद्भावना के उल्लास से पुलकित होकर थम जाता है। संगीत का सौन्दर्य उसे आत्महत्या के पाप से बचा देता है। इसी प्रकार सच्चरित्र स्त्रियों के स्निग्ध प्रेम के कारण अनेक ऐसे आततायी अपराधियों को शीलवान होते देखा गया है, जिन्हें दंड की शिक्षा नहीं सुधार सकी।

वर्तमान हिन्दी-साहित्य में यह भ्रांत धारणा लोगों में बद्धमूल हो गई है कि बिना किसी शिक्षा के कहानी व्यर्थ है। इस कारण जहाँ देखिए, वहीं शिक्षा का ज़ोर है। इसी प्रवृत्ति को हम लोग साहित्य की उन्नतावस्था समझे बैठे हैं। प्रेमचन्दजी की रचनाओं में यदि शिक्षा भरी पड़ी है, तो उनमें रचना-कौशल भी वर्तमान है। इस कारण उनकी कहानियों में तो भी एक विशेष स्वाद पाया जाता है। पर उनके अनुयायी उनके दोष का ही अनुकरण करने में समर्थ हुए हैं, गुणों का नहीं। तुच्छ सांसारिक शिक्षा देना ही क्या चरम पुरुषार्थ है ? मैं तो कहूँगा कि जो लेखक शिक्षा देने के बदले पाठकों को अपना हृदय प्रदान कर सकता है, वही श्रेष्ठ कलावित् है। कला का सम्बन्ध हृदय से है, मस्तिष्क से नहीं।

आधुनिक छोटी कहानी का प्रचलन पहलेपहल किस लेखक ने किया था, निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पर इसकी विशेषता सबसे पहले जर्मन कवि ग्येटे की कहानियों में पाई जाती है। इस महाकवि ने केवल कहानियों में ही नहीं, अपनी किसी भी रचना में कभी कोई उद्देश्य नहीं निर्देश किया है। रहस्यमय मानव-जीवन की सुख-दुःख-मयी विचित्रताओं की झलक उसने अपनी कहानियों में दिखलाई है। कथा-साहित्य के लिये फ्रांस प्रसिद्ध है। वहाँ गी-द मोपासाँ छोटी कहानियों के लिये प्रसिद्ध है। इस लेखक की कहानियों में रवीन्द्रनाथ की कविता का निम्नलिखित भाव पाया जाता है—

नदी जले पड़ा आलोर मतन
छुटे जा झलक-झलके !

अर्थात्, नदी के अविरल जल-स्रोत में पड़े हुए आलोक की तरह झिलमिलाती हुई झलक से बहता चला जा !

पूर्वोक्त फ्रांसीसी लेखक ने यह झिलमिली झलक बड़ी सुन्दरता के साथ अपनी कहानियों में दर्शाई है। पर उसकी कहानियों में सागर

का गंभीर विषाद नहीं पाया जाता। इस कारण उसकी छिछली भावुकता रसज्ञ व्यक्ति को अनेक समय अत्यन्त अरुचिकर प्रतीति होती है। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि उसने अपनी कहानियों में किसी प्रकार की शिक्षा प्रदान करने की चेष्टा नहीं की है। विशेष-विशेष भावों को प्रतिबिम्बित करना ही उसका प्रथम तथा अन्तिम उद्देश्य रहा है। संध्या के स्वर्णिम आलोक में जो व्यक्ति निर्भर के झर्झर-प्रपात का अनुपम दृश्य देख कर मुग्ध हो गया है, मनुष्य के व्यक्तिगत सुख-दुख की रङ्ग-बिरङ्गी आभाओं से जिसका मन उल्लसित हो उठा है, वह क्यों कोई शिक्षा किसी को देने लगा! वह तो केवल आनन्द की ही अनुभूति व्यक्त करेगा। डिकंस की कहानियों में भी कहीं लौकिक शिक्षा का समावेश नहीं है। उनमें मानव-जगत् के सुख-दुख का निष्ठुर परिहास करके कोरा आमोद झलकाया गया है। इस प्रकार का आमोद और हास-परिहास यद्यपि अवास्तविक है, और इस प्रकार की कहानियाँ यद्यपि उच्च कला के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं की जा सकतीं (भले ही अँगरेज़ लोग उनकी श्रेष्ठता की डींग मारते रहें) तथापि वे भी उद्देश्य-प्रधान नहीं हैं।

समस्त साहित्य-संसार में यदि कहानी लिखने में कोई लेखक समर्थ हुए हैं, तो वे रूसी लेखक, और उनमें भी विशेषतः टाल्सटाय और चेकाफ़। सभी लोगों को विदित है कि टाल्स्टाय कितने कट्टर नीतिनिष्ठ थे। पर उन्होंने अपनी कहानियों में भावों को प्रतिबिम्बित करने के अतिरिक्त कहीं भी कोई शिक्षा या नीति प्रतिष्ठित करने की चेष्टा नहीं की है। अन्तिम जीवन में उन्होंने जो नैतिक उपदेशपूर्ण 'पैरेबल' (Parables) लिखे थे, वे उनकी कला के अन्तर्गत नहीं हैं। वे उनके लेखों के अन्तर्गत हैं। जब कोई रूसी हमसे पूछे कि क्या आपने टाल्स्टाय की कहानियाँ पढ़ी हैं, और हम इसका अर्थ यह समझें कि हमने उनकी धर्म-सम्बन्धी रूपक-कथाएँ पढ़ी हैं, तो वह हमारी अल्पज्ञता पर

हँसेगा। टाल्स्टाय की 'छोटी कहानियाँ' और उनके 'पैरेबल' एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। टाल्स्टाय मानते थे कि मनुष्य के लिये नैतिक शिक्षा की आवश्यकता है। पर वह यह भी जानते थे कि कला के भीतर शिक्षा का लेश-मात्र स्थान नहीं है। उनकी 'कैसिक' शीर्षक कहानी पढ़िए, Death of Ivan Iliyitch और A Landed Proprietor पढ़िए। आपको मालूम होगा कि मानसिक तथा प्राकृतिक वृत्तियों का जो स्वाभाविक सौंदर्य टाल्स्टाय ने इन कहानियों में दर्शाया है, उसके सामने कोई भी शिक्षा या नीति नाचीज़ है। चेकाफ़ की कहानियों का भी यही हाल है। विषाद का अतल सागर मथकर इन दो कलाविदों ने जो अनिर्वचनीय रस निकाला है, उसकी तुलना में क्या कोई तुच्छ सामाजिक शिक्षा ठहर सकती है?

हमारे देश में रवीन्द्रनाथ और शरच्चन्द्र ने कहानी लिखने में ख्याति प्राप्त की है। रवीन्द्रनाथ की कहानियों में उन्हीं की कविता का पूर्वोक्त भाव पाया जाता है—

शुधु अकारण पुलके
क्षणिकेर गान गारे आजि प्राण
क्षणिक दिनेर आलोके!

और—

नदी जले पड़ा आलोर मतन
छुटे जा झलके-झलके!

अर्थात् अकारण पुलक से दिन के आलोक में क्षणिक का गीत गाना और नदी के अविरल जल-स्रोत पर पड़े हुए प्रकाश की तरह झिलमिलाते हुए बहना उनकी कहानियों की विशेषता है। पर उनकी झलक अत्यन्त अस्पष्ट और माया-मरीचिका की तरह भ्रम उत्पन्न करने

वाली है। इसमें संदेह नहीं कि उनमें शिक्षा की गन्ध तक नहीं है, और केवल निष्कलुष आनन्द का आभास है। पर यह सब होने पर भी उनकी कहानियाँ छायात्मक अधिक हैं, सत्तात्मक कम। उनकी कहानियों में स्वप्नलोक की ठगनी माया का ही प्रभाव अधिक है। ग्येटे, टाल्स्टाय और चेकफ़ आदि लेखकों की कहानियों में व्यक्तिगत जीवन के प्रतिदिन के सुख-दुख के जो कारुणिक और सत्तात्मक चित्र अङ्कित पाए जाते हैं, रवीन्द्रनाथ की कहानियों में उनका आभास कहाँ! वास्तविक व्यक्तिगत वेदना की अनुभूति से रवीन्द्रनाथ ने कोई भी कहानी नहीं लिखी है। उनकी कहानियों से कविताओं में अधिक सत्तात्मक और व्यक्तिगत भाव पाए जाते हैं। वर्तमान युग में 'छोटी कहानी' नाम की यह जो एक नई ललित कला आविर्भूत हुई है, इसकी विशेषता यही है कि यह व्यक्ति के प्रतिदिन के साधारण जीवन की वास्तविक वेदना की सत्ता को यथार्थ रूप में अंकित करके, अनन्त की सत्ता के साथ मिला देने में समर्थ होती है। मनुष्य का प्रतिदिन का जीवन कोई भौतिक लीला नहीं है। वह सत्य है, वह वास्तविक है। कविता में भले ही उस जीवन की छाया प्रदर्शित की जाय, किन्तु कहानी में उसकी वास्तविक सत्ता प्रकट होनी चाहिए। रवीन्द्रनाथ यद्यपि व्यक्ति के सत्तात्मक जीवन के बड़े पक्षपाती रहे हैं, तथापि उनकी अधिकांश कहानियों में हम छाया ही पाते हैं। यद्यपि वह छाया अत्यन्त सुन्दर तथा अनुपम है, तथापि उससे कहानी की विशेषता खर्व हो जाती है।

शरच्चन्द्र की कहानियों में व्यक्ति के जीवन की सत्ता यथार्थ रूप से प्रस्फुटित हुई है। उनकी 'विन्दुर छेले', 'रामेर सुमति', 'मेज दीदी' आदि कहानियों में प्रतिदिन के साधारण जीवन की वास्तविक सत्तात्मक वेदना ही मथित हुई है।

हिन्दी-साहित्य में प्रेमचन्दजी की कहानियों ने ख्याति प्राप्त की है। उनकी कहानियां शिक्षा-प्रधान हैं; पर उनमें से कुछ ऐसी भी हैं, जो सत्तात्मक और सुन्दर हैं। उदाहरण के लिये उनकी 'सौत' शीर्षक कहानी पढ़िए। यह कहानी भाव-प्रधान है, इसलिये इसकी सुन्दरता अपूर्व रूप से खिल उठी है।

कहानी के मूल भावों का सम्बन्ध हृदय से होना चाहिए, मस्तिष्क की कूट बुद्धि से नहीं। उसका उद्देश्य रसावेग के उभाड़ने का होना चाहिए, शिक्षावृत्ति को जागरित करने का नहीं। उनमें कामिनी की कमनीयता और समुद्र की गम्भीरता होनी चाहिए, पुरुष की रुक्षता और पहाड़ की कठोरता नहीं। वह सत्तात्मक होनी चाहिए, छायात्मक नहीं।

(१९२७)

हमारे राष्ट्र का भावी साहित्य और संस्कृति

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं होगी कि हमारे राष्ट्र की वर्तमान संस्कृति तनिक भी गर्व करने के योग्य नहीं है। इधर कुछ वर्षों से देश में एक नयी जागृति की लहर उठी है। इसमें सन्देह नहीं कि एक नूतन स्फूर्ति, अपूर्व चैतन्य, देश के प्राणी-मात्र में संचरित हुआ है; पर इस उन्मीलन का स्वरूप मुख्यतः राजनीतिक है। यह आवश्यक अवश्य है, पर निगूढ़ शिक्षा और विशुद्ध संस्कृति से उसका तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। असल बात यह है कि इस समय समस्त संसार का चक्र ही इस गति और इस नियम से चल रहा है कि उसके निपीड़न में अनेक युगों की साधना से प्रतिष्ठित संस्कृति और साहित्य प्राणहीन, निस्पंद-से हो गये हैं। यदि वर्तमान युग को राजनीतिक युग कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी। राजनीति के बिना कोई भी सभ्य समाज किसी भी युग स्वार्थ में प्रतिष्ठित नहीं रह सकता, इसमें सन्देह नहीं; पर यह युग स्वार्थ से भरी हुई अत्यन्त हलके ढंग की ओछी, पोपली राजनीति के तुच्छ धूम्रोद्गार से समस्त विश्व-प्रकृति को आच्छादित कर लेने की झूठी धमकी देता है। इस युग की हत्या से ऐसा भास होने लगता है, जैसे मानव-जीवन का अन्तिम और श्रेष्ठतम आदर्श केवल राजनीति की स्वार्थ-पूर्ण खींचा-तानी में ही परिपूर्ण होता है। जीवन के निगूढ़ आध्यात्मिक तत्त्व पर, अतींद्रिय ऐथरेय (Ethereal) रहस्य पर,

मानवात्मा की चिरकालिक साधना पर, सभी देशों, सभी जातियों का विश्वास ही एक तरह से हट गया है। यही कारण है कि विगत महायुद्ध के बाद संसारभर में अभी तक कोई ऐसी महत्वपूर्ण साहित्यिक अथवा दार्शनिक रचना नहीं निकली, जो मानव-मन की अन्तरतम, शाश्वत साधना पर प्रकाश डालती हो। इस सम्बन्ध में एक-मात्र अपवाद हैं—रवीन्द्रनाथ ठाकुर; पर उनकी बात छोड़ दीजिये। वह इस युग के व्यक्ति हैं ही नहीं। वह हर वक्त इस युग की राजनीति से अपना मस्तक ऊपर आकाश में उठाये रहते हैं; पर अब उनकी रचनाओं के प्रति भी यूरोप और अमेरिका में लोगों की उतनी श्रद्धा नहीं रही। इस युग के आदर्श हैं—बरनार्ड शा। राजनीति और व्यापार के चक्र से जिन जातियों के हृदय का रस निचोड़ लिया गया है, वे ही इस नीरस लेखक के शुष्क, अर्थहीन साहित्य में आनन्द पा सकते हैं।

ऊपर की भूमिका से मेरा आशय यह है कि हमारे राष्ट्र का भाग्य भी वर्तमान संसार की राजनीतिक जटिलता से संबंधित है; इसलिये वह भी आभ्यंतरिक संस्कृति की संपूर्ण उपेक्षा करके उसी आब-हवा में बह जाने के चिह्न प्रकट कर रहा है। ये लक्षण अच्छे नहीं। यदि राजनीतिक महत्वाकांक्षा के साथ-ही-साथ समानान्तर रेखा में भीतरी संस्कृति का विकास, पूर्ण स्वाधीनता से न होने दिया जायगा, तो सुदूर भविष्य में किसी विशेष महत्वपूर्ण परिणाम में हम नहीं पहुँचेंगे, यह निश्चित है।

अब प्रश्न यह है कि हमारी भावी संस्कृति और साहित्य का विकास किस रूप में हो? मैं आप लोगों को कोई नया मार्ग, कोई नवीन आदर्श दिखाने का दुस्साहस नहीं कर सकता। हमारे पूर्वजों ने जिस उज्ज्वल प्रतिभा-पूर्ण जीवन का महत् आदर्श जिस अमर संस्कृति का श्रेष्ठ निदर्शन हम लोगों के लिये छोड़ दिया है, उसी को फिर से

संपूर्ण आत्मा से अपनाने का प्रस्ताव मैं आप लोगों के मनन के लिये उपस्थित करता हूँ। जिस प्रकार ग्रीक और रोमन युगों में दो अपूर्व सभ्यताओं की परिणति संसार ने देखी है, उसी प्रकार रामायण और महाभारत के युगों में भी भारतवर्ष में दो परिपूर्ण सभ्यताओं ने अपना अप्रतिहत रूप विश्व को दिखाया था। विशेषतः महाभारत-युग की बात मैं कहना चाहता हूँ। इस युग में भारतीय संस्कृति जिस परिपूर्णता को पहुँच गई थी, वह 'न भूतो न भविष्यति' थी, इसमें संशय की कोई गुंजाइश नहीं है। यह युग वीरता का उतना नहीं, जितना ज्ञान और प्रतिभा का था। शक्तिपूर्ण ज्ञान को उस समय के वीरों ने प्रत्येक रूप में निःसंशय, द्विधारहित होकर अपनाया है। नीति, अनीति और दुर्नीति की किसी झिझक ने उनके आदर्श की खोज में बाधा नहीं पहुँचायी। यही कारण है कि शक्ति और ज्ञान को उन्होंने चरमावस्था में पहुँचाया और प्रतिभा में जन्म लेकर प्रतिभा में ही वे विलीन हो गये।

महाभारत के वीर वाह्य-जगत् में जीवन-भर राजनीति के चक्र में ही घूमते रहे; पर अंतर्जगत् के प्रति एक पल के लिये भी उन्होंने उपेक्षा नहीं दिखायी। मैं इसी आदर्श के प्रति आप लोगों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। राजनीतिक अवस्थाएँ युग-युग में—और आज-कल तो वर्ष-वर्ष में—बदलती रहती हैं; पर मानव-मन की संस्कृति शाश्वत, चिरंतन सत्य है।

महाभारत-युग की संस्कृति में क्या विशेषता थी? उसका अनुसरण किस ढंग से हमें करना होगा? इसका उत्तर पाने के लिये हमें अत्यंत निष्पक्ष भाव से प्रेरित होकर कठिन परिश्रम-पूर्वक महाभारत का अध्ययन और मनन करना होगा। जिस प्रकार कोई इतिहासज्ञ ऐतिहासिक सत्य की खोज के लिए किसी विशेष संस्कार-द्वारा अन्ध न होकर निर्विकार हृदय से अध्ययन करता है, जिस प्रकार कोई

कीट तत्त्ववेत्ता बिना किसी उपयोगिता की दृष्टि से केवल विशुद्ध सत्य के ज्ञान की लालसा से प्रेरित होकर कीट-जगत् के भीतर प्रवेश करता है, उसी प्रकार समस्त धार्मिक तथा नैतिक कुसंस्कारों को वर्जित करके हमें अमिश्रित, निष्कलंक सत्य के अन्वेषण की कामना से महाभारत के गहन-वन में प्रवेश करना होगा।

इस दृष्टि से विचार करने पर आप देखेंगे कि वह युग कितना स्वाधीन, कैसा निर्द्वन्द्व, स्वच्छन्द था! आप क्या वेद-निन्दक हैं? आइये, आप इस कारण महाभारत के वीरों के समाज से कदापि बहिष्कृत नहीं हो सकते, यदि आप में कोई वास्तविक शक्ति वर्तमान है। आप क्या जारपुत्र हैं? कोई परवा की बात नहीं; आपकी आत्मा में यदि पराक्रम का एक भी बीज है, तो यहाँ सहर्ष ये लोग आपका स्वागत करेंगे। आप क्या जुआरी हैं? घबराइये मत; आपके हृदय में कोई सच्ची लगन है, तो ये लोग कदापि आपको दूषित नहीं समझेंगे। पाँच पतियों के होते हुए भी इन्होंने द्रौपदी को सीता के समकक्ष स्थान दिया है, ये ऐसे आत्मविश्वासी, शक्तिशाली महात्मागण हैं। बाह्याचार की दृष्टि से अनेक अक्षम्य दोषों के होते हुए भी उन्होंने समस्त संसार के मुख से यह स्वीकार कराया है कि पंच पाण्डव देवता-तुल्य प्रतिभाशाली पुरुष थे।

मैं महाभारत से आप लोगों को क्या शिक्षा लेने के लिये कहता हूँ? सत्य बोलो, प्राणियों पर दया करो, क्रोध का त्याग करो, व्यभिचार से अलग रहो, जीव-हित में लगे रहो, ये सब अत्यन्त साधारण, रात-दिन के गार्हस्थ्य जीवन में लागू होने वाले उपदेश आपको एक अत्यन्त तुच्छ स्कूल-पाठ्य पुस्तक में मिल सकते हैं। युग-विवर्तन-कारी महाभारत-कांड से, आपका इन क्षुद्रातिक्षुद्र नीति-वाक्यों से लाख गुना अधिक महत्वपूर्ण तत्वों की प्रत्याशा करनी चाहिये। महाभारत इन उपदेशों को अत्यन्त उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। उक्त महाकाव्य में

सर्वत्र समाज के बाह्याचार के नियमों की ध्वंसलीला ही दृष्टिगोचर होगी। सब देशों ने, सर्वकाल ने, धर्म और नीति के जो तत्व प्रतिपादित किये हैं, महाभारत के मनीषियों ने उनके प्रति वृद्धांगुष्ठ प्रदर्शित करके प्रबल फूत्कार से उन्हें उड़ा दिया है। संसार-भर का साहित्य और इतिहास छान डालिये। आपको कहीं भी ऐसा दृष्टांत नहीं मिलेगा, जिसमें किसी अत्यंत उन्नत चरित्र तथा आदर्श-स्वरूप प्रमाणित की गयी और मानी गयी स्त्री के पाँच पति हों। यह तथ्य यदि सत्य था, यदि वास्तव में ऐतिहासिक दृष्टि से द्रौपदी के पाँच पति थे, तो भी कोई डरपोंक लेखक अपने काव्य में इस बात को गर्व के साथ प्रकट न करता, बल्कि छिपाता। यदि यह बात सत्य नहीं, एक रूपक-मात्र है, तो इससे कवि का साहस और भी अधिक दुर्जय होकर प्रकट होता है—वह एक ऐसी काल्पनिक बात को अपना आदर्श बना गया है, जो साधारण नैतिक दृष्टि में अत्यन्त निन्दनीय है; पर वह तो लोकोत्तर पुरुषों का (देवता नहीं) अगम्य चरित्र चित्रित करना चाहता था और साथ यह भी चाहता था कि साधारण-जन-समाज भी लोकोत्तर महापुरुषों के बुद्धि के निकट तक पहुँच जाये। महाभारत से पता चलता है कि वेदव्यास घोर व्यभिचारी थे और धृतराष्ट्र तथा पांडु अपने बाप के लड़के नहीं थे। वेदव्यास के ब्राह्मण पिता अंध कामुक थे। पांडव—हां, महाभारत के मुख्य नायक पांडव भी—अपने पिता के पुत्र नहीं थे, यद्यपि इस तथ्य को कवि ने रूपक के छल से किसी अंश तक छिपाने की चेष्टा की है। और पांडवों की श्रद्धेय माता कुन्ती कौमार्यावस्था में ही एक पुत्र प्रसव कर चुकी थीं। (कर्ण की उत्पत्ति सूर्य के समान तेजस्वी किसी लोकोत्तर पुरुष से हुई थी, यह निश्चित है। कवि ने उसे स्वयं सूर्य बतलाकर इस घटना पर गम्भीरता का पर्दा डाला है ; ताकि कर्ण जैसे वीर का जन्मोत्सव कोई हँसी में न उड़ाये।)

मैं आप लोगों से पूछना चाहता हूँ कि इन सब बातों को आप

तर्क के किस ब्रह्मास्त्र से उड़ा देना चाहते हैं? मैं प्रार्थना करूँगा कि इन्हें यथारूप स्वीकार कीजिये। इनमे यही पता चलता है कि या तो वह युग घोर बर्बर-युग था, ज्ञान की उन्नततम सीढ़ी पर चढ़ चुका था। धन्य है उस कवि के साहस को, जिसने कोई बात न छिपायी; क्योंकि वह विश्वात्मा के अंतरतम केंद्र में पहुँच चुका था, और जिसने केन्द्र पकड़ लिया हो; उसे वृत्त की बाहिरी परिधि से क्या सरोकार! बल्कि परिधि के बाहर जाने में ही उसे आनन्द प्राप्त होता है। महाभारत के महात्माओं का लक्ष्य प्रकृति के बाह्य-रूप को छेदकर उसके अंतस्तल पर लगा हुआ था; इसलिये वे अत्यंत अन्यमनस्क होकर बाह्य नियमों का पालन करते थे। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि वह प्रतिभा का युग था। बुद्धि जब पराकाष्ठा को पहुँच जाती है, तो वह सृष्टि की भी अपूर्व लीला दिखाती है और संसार की भी। सृजन में उसे जो आनन्द होता है, विनाश में भी वह उसी को अनुभव करती है। महाभारत के प्रकांड युद्धकांड ने कर्म और ज्ञान के जिस सूक्ष्म तत्व का सृजन किया, वह अब तक अज्ञात रूप में हमारे रक्तकणों में संचारित हो रहा है। और संहार तथा विनाश का जो रूप उसने दिखाया, उसके संबन्ध में कहना ही क्या है!

अपने ही रक्त से संबंधित लोगों का हत्या का उपदेश कृष्ण के अतिरिक्त और किस धर्मोपदेशक ने दिया है? नीति, दया, हिंसा तथा अहिंसा की दृष्टि से इसकी सफ़ाई देना मूर्खता का द्योतक होगा। मैं कह चुका हूँ कि यह विश्वात्मा के अत्यन्त गूढ़तम प्रदेश में दृष्टि डालने वाली प्रतिभा का ही ध्वंसोपदेश है। वेद की निन्दा आप इस बिंश शताब्दी में भी करने का दम नहीं भर सकते; पर गीताकार को देखिये! वह कैसे छू-मन्तर से उसे उड़ा देता है! किसी महान् जटिल मानसिक स्थिति-सम्पन्न व्यभिचारी का चरित

चित्रण करने का साहस इस अनीति के युग में भी आपको नहीं होगा; क्योंकि धर्मात्मा आलोचक अथवा नीतिनिष्ठ सम्पादकगण आपको संत्रस्त करेंगे; पर महाभारतकार का आत्मबल देखिये। वह एक ऐसे जुआरी को धर्मराज की पदवी देता है, जो अपनी स्त्री तक को हार गया! बात यह है कि उसका निष्कलुष हृदय बाह्य-दोषों को न देखकर अपने चरित-नायक की भीतरी प्रतिभा को परखता है। नीत्शे के Ubermensche (लोकोत्तर पुरुष) का काल्पनिक आदर्श भी महाभारतकार के प्रत्यक्ष सत्य चरित्रों के अगम्य रहस्य के आगे निस्तेज पड़ जाता है! पाश्चात्य जगत् अभी तक कृष्ण के युग को असभ्य युग समझता है और हम लोग अंध भक्ति से उसे श्रेष्ठ मानते हैं। दोनों भ्रामरी माया के फेर में हैं। इतिहासकारों के कथनानुसार भारत युद्ध को ४००० वर्ष व्यतीत हो चुके। क्या उसका मर्म समझने के लिये चार हज़ार वर्ष और बीतेंगे? आश्चर्य नहीं।

ज्ञान और शक्ति किसी भी रूप में हो उन्हें ग्रहण करो, यही उपदेश इस समय हम कृष्ण-युग से ले सकते हैं। तभी वास्तविक संस्कृति के पास हम पहुँच सकेंगे। पाश्चात्य जगत् आज बुद्धि और शक्ति में हमसे कई गुना अधिक श्रेष्ठ इसीलिये है कि उसने अनजान में इस मूल रहस्य को पकड़ा है। किसी निन्द्यवृत्ति में भी वहाँ के मनीषियों को यदि यथार्थ शक्ति का आभास मिला है, तो उन्होंने उसी दम उसे अपनाया है; पर हम लोग अपनी दुर्बल धर्म-नीति का पचड़ा लेकर पग-पग में झिझक, बात-बात में द्विविधा और असमंजस के फेर में पड़े हैं। साहित्य को ही लीजिये। हम लोग चाहते हैं, कि उसमें भी हमें धर्मोपदेश के भाव मिले। पर ग्रीक ट्रेजेडियों में और शेक्सपीयर के श्रेष्ठ नाटकों में व्यभिचार, घृणा, क्रोध और प्रतिहिंसा की ज्वाला के अतिरिक्त हम क्या पाते हैं? तब क्यों संसार ने ऐसी रचनाओं

को सिर माथे चढ़ाया है ? असल बात यह है कि उपर्युक्त कृतियों में भी एक ऐसी शक्ति छिपी है, जिसे साधारण मनुष्य देख नहीं पाता; पर कवि या दार्शनिक उस सुप्त शक्ति को जागरित करके पाठकों की आत्मा में एक अपूर्व बल संचारित कर देता है। नीत्शे अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ Also sprach Zarathustra में कहता है—"तुम लोगों का सर्वश्रेष्ठ अनुभव क्या हो सकता है ? वह मुहूर्त जिसमें तुम्हारे हृदय में महत् घृणा उमड़ती है।" घृणा हेय नहीं है, उसमें भी शक्ति है; अधिकारी और पारखी का सवाल है। प्रसिद्ध ग्रीक नाटककार सोफ़ोक्लीज की सर्वश्रेष्ठ रचना Oedipus में एक ऐसे दिल दहलाने वाले व्यभिचार का विकट वर्णन है कि उसका स्पष्ट उल्लेख करने से अनेक पाठक मुझे फाँसी देने का प्रस्ताव करेंगे। स्वयं मेरी लेखनी को साहस नहीं होता; पर इस निन्दनीय व्यभिचार के नायक के उच्छ्वलित भावावेग का क्रन्दन ऐसी खूबी से नाटककार ने दिखाया है कि उसके प्रति समवेदना स्वतः उमड़ उठती है। इस व्यभिचार से जिस कन्या की उत्पत्ति हुई है, उसके चरित्र के माहात्म्य से सारा यूरोपीय साहित्य आप्लुत है। शेक्सपीयर की ट्रेजेडियों में पाप के मथन से जिस प्रबल आध्यात्मिक शक्ति का प्रवेग प्रवाहित हुआ उससे सभी पाश्चात्य काव्यमर्मज्ञ परिचित हैं। इन नाटकों में केवल हत्या, प्रतिहिंसा और घृणा का विस्फूर्जन और गर्जन हुंकृत हुआ है। फिर भी इनमें अगाध रसका अनन्त स्रोत कहाँ से उत्पादित हुआ है ? कारण वही है जो मैं ऊपर बता चुका हूँ। निखिल प्राण की रहस्यमयी शक्ति उनमें छिपी है। पाप भी यदि शक्तिपूर्ण है, तो वह श्रेष्ठ है; पुण्य भी यदि दुर्बल है तो वह तुच्छ है। रूस के प्रसिद्ध कवि पुश्किन ने कहा है—"अधम सत्य से वह असत्य कई गुना अधिक श्रेष्ठ है, जो हमारी आत्मा को उन्नत, जाग्रत करता है।" नीत्शे कहता है—पाप मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ शक्ति है। × × ×

श्रेष्ठ पाप ही मेरा श्रेष्ठ परितोष है। × × × मनुष्य अधिकतर उन्नत और विकटतर पापी (besser and bosser) बने, मैं यही शिक्षा देता हूँ।" साधारण मनुष्य तुच्छ पाप और तुच्छ पुण्य को तौलकर अपना जीवन यापन करता है; इसलिये उसके लिये पाप से बच-बचकर चलना बहुत आवश्यक है। ऐसे संसारी पुरुष को कभी कोई पाप में जकड़ने का उपदेश नहीं दे सकता; पर उद्धत प्रतिभाशाली पुरुष सांसारिक भले-बुरे के बिलकुल परे है, इसलिये वह बृहत् पाप को ही अपने उन्नत आदर्श का सम्बल-स्वरूप बनाकर महाप्रस्थान की ओर दौड़ता है। सांसारिक पुरुष प्रतिदिन के सुख-दुःख को लेकर ही व्यस्त है; पर प्रतिभाशाली इन बंधनों को नहीं मानना चाहता और इनसे बहुत परे दृष्टि रखता है। राष्ट्र की वास्तविक संस्कृति इन इने-गिने लब्ध-प्रतिभ मनीषियों के द्वारा ही प्रतिष्ठित होती है; इसलिये उन्हीं के लिये मेरा यह लेख है। विशेष करके उन नवीन-हृदय, तरुण महात्माओं के प्रति मैं निवेदन कर रहा हूँ, जिनकी अन्तर्निहित प्रतिभा भविष्य में राष्ट्र को आलोकित करेगी।

प्रतिभा अत्यंत रहस्यमयी है। वह जब अपनी दुर्बलता भी प्रकट करना चाहती है, तो वह वज्र से भी अधिक सबल, समुद्र के गर्जन से भी अधिक प्रयलंकर होकर व्यक्त होती है। रूसो की स्वीकारोक्तियाँ, डास्टाएव्सकी के उपन्यास, स्ट्रिन्डबेर्ग के नाटक इसके दृष्टांत-स्वरूप हैं। गेटे का "फौस्ट" भी अपनी दुर्बलता के कारण अमर शक्तिशाली प्रतीत होता है। इस दुर्बलता का वर्णन फाउस्ट ने अपनी 'दो आत्माओं' के सम्बंध की प्रसिद्ध Soliloquy (स्वगत-भाषण) में अत्यंत सुन्दरतापूर्वक किया है। लेख के बढ़ जाने के भय से इसका अनुवाद मैं यहाँ पर नहीं दे सकता। अपने पिछले किसी लेख में दे चुका हूँ। अपनी दुर्बलता का सहारा लेकर बायरन ने 'चाइल्ड हेरल्ड' जैसे वीर-काव्य की रचना की है।

बायरन का उल्लेख करते हुए मुझे स्वामी रामतीर्थ की एक बात याद आयी है। उन्होंने कहा है कि वाह्य-दुर्बलताओं से कभी मनुष्य की वास्तविक प्रकृति पर विचार नहीं करना चाहिये। इसके दृष्टांत-स्वरूप उन्होंने बायरन को लिया है। सभी साहित्य-रसिकों को मालूम होगा कि इंगलैंड में बायरन के ऊपर एक अत्यंत वीभत्स लांछन लगाया गया था, जिसका निराकरण अब भी नहीं हुआ है, और जो पाश्चात्य नीति-निष्ठों के हृदय में अब भी विभीषिका उत्पन्न करता है। इस सम्बन्ध में एक भारतीय महात्मा का कहना है कि हमें बायरन को इस वाह्यनीति के दृष्टि से नहीं देखना होगा, उसकी प्रतिभा इसके परे थी! डान युआन के लेखक के प्रति यह उदार भाव एक वास्तविक वेदान्ती के ही योग्य है।

इन सब बातों से मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि राष्ट्र के प्राणों में यदि हम उच्चतम-संस्कृति का बीज बोना चाहें, तो हमें पाप-पुण्य, अंधकार, आलोक सभी तत्वों को अपनाना होगा। सब प्रकार के भावों को ग्रहण करके उनमें से ज्ञान, प्राण और शक्ति को शोषना होगा। Culture शब्द कृषि और कर्षण का पर्यायी है। सभी जानते हैं कि अच्छी कृषि के लिये अधिक और सारवान खाद की आवश्यकता होती है। और खाद ऐसी चीज़ है, जो अधिकांशतः कोई शुद्ध, परिष्कृत वस्तु नहीं होती; इसलिये मैं कहता हूँ, कि केवल निर्मल नीति को जकड़े रहने की चेष्टा अनुर्वरता का परिचायक है। हमारी संस्कृति सृष्टि-कारिणी होना चाहिये, बंध्या नहीं। यदि गन्दगी में भी हमें ज्ञान, प्राण और शक्ति का बोध होता है, तो निःसंशय होकर उसको जड़ खोदनी होगी। अपनी पुनीत नीति को वाह्य स्पर्श से अछूता रखने के लिये अत्यन्त सावधान होकर बच-बचकर चलने की चेष्टा अत्यन्त हास्यपद और जड़ मोहात्मक है। हमारी वर्तमान जड़ता का कारण ही यही है। हमें निर्द्वन्द, द्विविधाहीन, निःसंशय

होकर ज्ञान के समस्त उद्‌गमों को खोदना होगा। 'संशयात्मा विनश्यति।'

पाप का प्रचार इस लेख का उद्देश्य कदापि नहीं है। जन-साधारण के लिये यह लेख मैंने लिखा भी नहीं। केवल इने-गिने प्रतिभाशाली प्रतापियों के प्रति ही मैंने निवेदन किया है। उनसे मेरी यह प्रार्थना है कि वे दोनों पहलुओं पर विचार करके मेरे लेख का निर्णय करें। मेरी कई बातों पर गलत-फ़हमी होने की बहुत सम्भवना है। लेख का विषय ही ऐसा है।

नीत्शे ने अपनी एक पुस्तक के प्रारम्भ में लिखा है— "Fur alle and keinen" (सबके लिये और किसी के लिये नहीं।) मैं भी अपने क्षुद्र लेख के अन्त में यही बात घोषित करने का दुस्साहस करता हूँ।

१९३१

जन-साधारण के साहित्य का आदर्श

All the inclinations of nature, without excepting benevolence itself, when carried or followed out into society without prudence and without choice, change their nature and become often as harmful as they were useful in their first administration.

Rousseau—Reveries of a Solitary.

इधर कुछ दिनों से मैं साहित्य-चर्चा से हाथ खींच चुका था। इसके कई कारण थे, जिनमें एक यह भी था कि कुछ विशेषज्ञों ने मेरी साहित्य-सम्बन्धी उक्तियों पर दाम्भिकता का अभियोग लगाकर उन्हें निन्दनीय सिद्ध कर दिया था। उन महानुभावों की महनीय सम्मति को सिरमाथे रखकर मैंने इस सम्बन्ध में मौनं हि शोभनम् समझकर चुप्पी साध ली थी। इसके अतिरिक्त एक बात और है। मैंने देखा कि जो नवीन युग दुर्दमनीय अशान्ति से गर्जन करता हुआ राजनीतिकक्रान्ति की फुफकार और सामाजिक विद्रोह की हुङ्कार के साथ विश्वगगन को शताब्दियों की सञ्चित धूलि से आच्छन्न किये हुए है उसमें वास्तव में साहित्य, कला और सौन्दर्य के लिए कहीं कोई स्थान नहीं रह गया है। स्थायी साहित्य किसी सामाजिक स्थिति के transition (परिवर्तन)

के युग में नहीं पनप सकता। इस कारण से भी साहित्यालोचन से मुंह मोड़ लेना मैंने श्रेयस्कर समझा था। इस बीच नाना साहित्यिकों ने सामयिक पत्रों में काव्य-कला तथा साहित्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में बहुत-सी सनसनी खेज साहित्यिक 'थिओरियों'को विश्लेषित और भाष्यांकृत किया। पर मैंने उन पर कोई टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं समझी। साहित्य की सामाजिक उपयोगिता, मजूर तथा हरिजन-साहित्य के उत्पादन की आवश्यकता पर भी नये खूनवाले साहित्यिकों ने बहुत-कुछ लिखा। गरज यह कि साहित्य-चर्चा किसी न-किसी रूप में हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में चलती रही,बंद न हुई। इन महज्ञों की महत्त्वपूर्ण वाणी के बीच अपने कटु कर्कश कथन की कोई उपयोगिता मैंने न समझी। पर इस बार जब मेरे मित्र श्री अख़्तर हुसेन रायपुरी ने लेनिन-जैसे विश्वक्रान्तिकारी महानायक की साहित्यिक महावाणी का लम्बा-चौड़ा उद्धरण देकर 'साहित्य और क्रान्ति' के शीर्षक से एक लेख लिखकर साहित्यकी समस्त प्राचीन तथा अर्वाचीन परिभाषाओं को ठुकराकर नवीनयुग की अभिनूतन विचारधारा के विद्रोहात्मक प्रवेग में मुझे भयभीत कर दिया तो अपने भय के भूत को भगाने के लिए उसके सम्बन्ध में मुझे लिखने को बाध्य होना पड़ा है।

'प्रोलेटेरियन' साहित्य की आवश्यकता तथा साहित्य के 'प्रोलेटेरियन' स्वरूप की उपयोगिता पर आज से नहीं, फ्रान्सीसी राज्य-क्रान्ति के समय से ही एक विशेष श्रेणी के लोगों का ध्यान गया है। रूस में जारशाही के जमाने में भी इस आन्दोलन ने जोर पकड़ा था कि साहित्य को साधारण जनता के मस्तिष्क और मन की पहुँच तक लाना चाहिए। धीरे-धीरे इस विचार का प्रचार बढ़ता चला गया और जब रूस में सोवियट शासन की स्थापना हुई तो संसार ने उस विचार को व्यवहारिक रूप में परिणत होते देखा।

सोवियट शासन की प्रारम्भिक अवस्था में रूस में जिस साहित्य का

उत्पादन हुआ है उसे यदि हम प्रोलेटेरियन साहित्य के आदर्श-स्वरूप मान लें, और समझ लें कि साधारण जनता को केवल उसी श्रेणी के साहित्य में रस मिल सकता है तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रोलिटेरियट श्रेणी के लोग अत्यन्त शुष्कहृदय, भावुकता-रहित और नीरस होते हैं। पर सोवियट युग से पूर्व के रूसी लेखकों ने (यहाँ तक कि गोर्की ने भी—जिसे रूस की वर्तमान प्रोलेटेरियन जनता भी लेखक मानती है) रूसी किसानों और मजूरों का जैसा चरित्र-चित्रण किया है उससे तो यही पता चलता है कि उनके अन्तस्तल में भावका अजस्र स्रोत निरन्तर बहता रहता है—भले ही परिस्थितियों के फेर तथा सांस्कृतिक विकासके अभाव में उस भावधारा में अनेक समय विकृति पायी जाती रही हो। केवल प्रेम और करुणा ही हृदय के भाव नहीं हैं, घृणा तथा प्रतिहिंसा भी भावुक हृदय की आवेगमयी प्रवृत्तियाँ हैं, जो काव्य-रससे पूर्ण हैं। हमारे अलङ्कार-शास्त्रियों ने इसीलिए बीभत्स, रौद्र, भयानक आदि रसों को काव्य का विषय माना है। ग़रज यह कि रूसी प्रोलेटेरियट में अन्यान्य सभी देशों की साधारण जनता की तरह भावावेगमयी रसपूर्ण प्रवृत्तियां पूर्णतः निहित हैं और अपने अन्तस्तल में यह उसकी स्पन्दनमयी चेतना की आवश्यकता अनुभव करता है। इसलिए सोवियट रूसमें जो प्रचारात्मक, शुष्क, नीरस, बुद्धि-सम्बन्धी गहनताओंसे एकदम रहित, बच्चों के खेलका साहित्य पनपा उससे वहां की जनताकी भावुक मनोवृत्ति भूखी ही रह गयी। इसमें सन्देह नहीं कि इस मनोवृत्ति को मूलतः दबाने का पूर्ण प्रयत्न कम्यूनिस्ट कार्यकर्ताओं ने किया और तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति को देखते हुए उनकी यह चेष्टा किसी अंश में आवश्यक भी मानी जा सकती है, पर हमारे कहने का मतलब केवल यही है कि उसे बिलकुल दबा देने की चेष्टा मानवी प्रकृति को उलट देने का व्यर्थ प्रयास था,

और अब उस गलती को रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी खूब अच्छी तरह महसूस करने लगी है। खैर।

मैं कह रहा था कि जन-साधारण के हृदय में भावुकताका आवेग, काव्यात्मक रस की पिपासा किसी भी उच्च तथा अल्प श्रेणी की जनता में किसी अंश में भी कम नहीं होती। हमारे मित्र श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने भारत के विभिन्न प्रान्तों में भ्रमण करके जिन ग्राम्य गीतों का संग्रह किया है उन्हें पढ़ने से कोई भी व्यक्ति यह कह सकता है कि प्रेम तथा रोमान्स की हवाई दुनिया में जिस हद तक हमारे किसान भाई उड़ा करते हैं, उच्च-शिक्षा तथा संस्कृति-प्राप्त विद्वज्जन उसका क़यास भी नहीं कर सकते। रूस के किसान कवियों तथा जिप्सियों के गीतों तथा कविताओं में उन्मद रसावेग की प्रबलतासे पुश्किन, टाल्सटाय तथा तुर्गेनिव को जो प्रेरणा मिली थी वह उनकी बहुत-सी रचनाओं में अमर रूप धारण कर गयी है। टाल्सटाय ने सबसे पहले 'क़ज्ज़ाक' शीर्षक कहानी लिखकर ही वास्तविक प्रसिद्धि पायी थी। इस कहानी में प्रोलेटेरियट श्रेणी के लोगों का जीवन-चक्र वर्णित होने पर भी जो रोमान्स भरा हुआ है वह अद्वितीय है। कहने का मतलब यह कि यदि किसी को यह धारणा हो कि 'कामरेड' लोगों के उपयुक्त साहित्य की सृष्टि करने के लिए केवल उनकी भूख प्यास की तड़पन दिखाने, उनके कठिन परिश्रम-क्लिष्ट जीवन के असहनीय कष्टों का खाका खींचने की ही आवश्यकता है, तो इस पर हमारी यह तुच्छ सम्मति है कि इस प्रकार के साहित्य से उनके कर्मज्वर-जर्जरित हृदय के लिए फीवर मिक्सचर भले ही तैयार किया जा सके, आनन्दमय अमृत कभी तैयार नहीं किया जा सकता। और इस अमृत की कितनी बड़ी आवश्कता उनके श्रान्त-क्लान्त, जीर्ण-शीर्ण मन को रहती है! उसके लिए वे कितना तरसते हैं!

इस विषय पर विद्वानों में अरसे से वाद-विवाद चल रहा है कि

किसान और मजूर-श्रेणी के लोगों के लिए किस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता है, और उच्च श्रेणी का साहित्य उनकी रुचि तथा मानसिक संस्कृति की आवश्यकता के लिए उपयुक्त है या नहीं। टाल्सटाय ने प्रायः साठ साल पहले अपनी जगद्विख्यात What is Art (कला क्या है) शीर्षक पुस्तक में यह प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि साहित्य-कला-सम्बन्धी वही कृति सबसे उत्तम समझी जानी चाहिए जिसे जनसाधारण अच्छी तरह समझकर उसमें पूरा-पूरा आनन्द ले सके। रोमां रोलां टाल्सटाय के कला-सम्बन्धी विचारों से बहुत-कुछ अंश में सहमत न होने पर भी साहित्य की श्रेष्ठता की परख के इस criterion के पक्षपाती बन गये। इसी आदर्श को सामने रखकर उन्होंने 'जन-साधारण का रङ्ग-मञ्च' शीर्षक एक पुस्तक लिखी, जिससे जनता में बड़ी सनसनी फैल गयी। इस पुस्तक में रोमां रोलां साधारण श्रेणी की जनता की आन्तरिक रुचि और मानसिक प्रवृत्ति का सूक्ष्म विश्लेषण कर के इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि शेक्सपियर के नाटक जन-साधारण की रुचि के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हैं! इस अद्भुत मन्तव्य को सुनकर लोगों को अवश्य ही आश्चर्य होगा, पर रोमां रोलां का कहना है कि क्या हैमलेट, क्या ओथेलो, क्या जूलियस सीज़र, प्रत्येक नाटक में वे अन्त तक ऐसी दिलचस्पी लेते हैं कि सुसंस्कृत-श्रेणी की जनता उसका अन्दाज भी नहीं लगा सकती। जिस श्रेणी के साहित्य को कम्यूनिस्ट नेताओं ने बूर्जवा साहित्य कहकर तुच्छ मानकर श्रमिकों के लिए अनुपयुक्त करार दे दिया था, वास्तव में उसका कैसा प्रभाव उन लोगों पर पड़ता है, रोमां रोलां की बात से यह जानकर आश्चर्य होना स्वाभाविक है। पर मानवी प्रकृतिकी आदिम प्रवृत्ति को बदलना बहुत मुश्किल है। सामाजिक क्षेत्र मेंaristo-cracy (आभिजात्य) का एकाधिपत्य चाहे कैसा ही अनिष्टकर क्यों न हो, मानसिक संस्कृति के क्षेत्र में उसके विकास की परम आवश्यकता है। वह 'कल्चर' ही नहीं जिसमें बुद्धि-सम्बन्धी आभिजात्य (intellectual

aristocracy) का भाव पूर्ण विकास को प्राप्त न हुआ। एक साधारण से साधारण श्रमिक भी व्यावहारिक क्षेत्र में भले ही हरिजन हो, पर अपने अन्तस्तल की निगूढ़ समावेगमयी प्रवृत्ति की तृप्ति के लिए उसे जानकर या अनजान में अपने मानसिक जगत् में आभिजात्य वातावरण उत्पन्न करना पड़ता है, और वास्तव में वह ऐसा करता भी है।

किसी भी देश के लोकसाहित्य (folk literature) पर दृष्टि-पात कीजिये, आप देखेंगे कि साधारण श्रेणी में सदा वे ही रचनायें लोकप्रिय हुई हैं जो हृदयावेग से, आभिजात्य भावों से पूर्ण हैं। प्राचीन ग्रीक समाज में इलियड और 'ओडेसी' सबसे अधिक लोकप्रिय रचनायें थीं और प्रोलेटेरियन गायकों द्वारा गांव गांव में उनका पारायण हुआ करता था। सभी जानते हैं कि उक्त दो महाग्रन्थों में केवल अभिजातवंशीयों के युद्ध और सन्धि, राग-द्वेष, हिंसा-प्रतिहिंसा, घृणा-प्रेम आदि की आवेगमयी घटनाओं का ही विवरण है। तथापि साधारण जनता को युगों तक उन्हीं में अलौकिक आनन्द प्राप्त होता था। हमारे यहाँ तुलसी-रामायण सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। सभी जानते हैं कि इसमें किसानों और मजूरों के सुख दुःखों का वर्णन नहीं है, तथापि बूर्जवा लोगों से भी कई गुना अधिक आनन्द वे लोग उसमें लेते हैं। बैताल-पचीसी, किस्सा तोता-मैना आदि लौकिक पुस्तकों में भी राजा और रानियों अथवा सेठ और सेठानियों का ही वर्णन है। तथापि हमारे प्रोलेटेरियन भाई उनमें जो स्वाद पाते हैं, वह अकथनीय है। यदि इन रचनाओं के बदले उन्हें कोई ऐसी कहानी पढ़ने को दी जाय जिसमें श्रमिकों के कर्मक्लान्त जीवन की कठि-नाइयों का वर्णन हो तो यह बात दावे के साथ कही जा सकती है कि उन्हें वह रचना कभी नहीं जंचेगी। कारण स्पष्ट है। जिस हरिजन-त्वकी अवस्था में रहने को उन्हें सामाजिक परिस्थितियों द्वारा वाध्य किया गया है, जिसके कारण वे रात-दिन लौहचक्र के पेषण में पिसने के

लिए मजबूर हैं, उसके Compensation (क्षतिपूरण) के तौर पर वे अज्ञात रूप से अपने मानसिक जगत् में एक ऐसे उन्नत वातावरण की सृष्टि करना चाहते हैं जिसमें उनकी मानवीय वृत्तियों की निगूढ़ आकांक्षा बन्धनहीन अवकाशमय अवस्था में पूर्णतया चरितार्थ हो सके। व्यावहारिक जगत्की क्लिष्टता के बाद यदि मानसिक जगत् में भी उन्हें रूखे साहित्य की कठिनता में अपनी आवेगमयी अनुभूतियों को सुखाना पड़े, तो इससे अधिक अत्याचार उन पर और कोई नहीं हो सकता।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि प्रोलेटेरियन जनता के लिए जिस साहित्य की सृष्टि की जाय उसमें उनके रात-दिन के सुख-दुःखमय जीवन का कोई उल्लेख हो न हो। प्रोलेटेरियन जीवन के सम्बन्ध में भी ऐसी-ऐसी रचनायें लिखी जा चुकी हैं जिनके कला कौशल की मोहिनी ने साधारण जनताको विस्मय-विमुग्ध किया है। उदाहरण के लिए गोर्की-की रचनाओं का उल्लेख इस सम्बन्ध में किया जा सकता है। गोर्की की प्रायः सभी रचनायें प्रोलेटेरियन जीवन से सम्बन्धित हैं। पर उनकी सारी तारीफ़ ही इस बात पर है कि उनमें गोर्की ने जन-साधारण के अन्तस्तल की मूल प्रवृत्तियों के पारस्परिक सङ्घर्ष के चित्रण द्वारा उनके पददलित, लांछित जीवन के भीतर दबे हुए आभिजात्य भावमय उन्नत आवेगों का विस्फूर्जन व्यक्त करने में कमाल किया है। उसकी प्रत्येक रचना केवल इसी एक कारण से महनीय है। यही कारण है कि गोर्की ने कभी अपनी रचनाओं को Proletarian Literaturo नहीं कहा। प्रोलेटेरियन लोगों का परम प्रिय कामरेड होने पर भी साहित्य के क्षेत्र में उसे 'प्रोलेटेरियन' शब्द से चिढ़ रही है।

रूस में सोवियट शासन होने के बाद गोर्की ने रोमां रोलां को लिखा था कि नवीन युग के लड़कों के लिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जिसे पढ़ कर इस विध्वंस और विनाश के युग में

उन्हें जीवन के सुन्दर महामहिम और सुन्दर स्वरूप का अनुभव प्राप्त हो सके। उसी पत्र में गोर्की ने अपना यह विश्वास प्रकट किया था कि माइकेल एञ्जेलो-जैसे कलाकार तथा बीठोफेन-जैसे सङ्गीतज्ञ की जीवनियों से प्रोलेटेरियन बालकों को सांस्कृतिक उन्नति में बड़ी सहायता मिलेगी। उसने रोमां रोलां से उक्त दो प्रतिभाशालियों की बालकोपयोगी जीवनियाँ लिखने के लिए विशेष अनुरोध किया और रोमाँ रोलां ने उसके अनुरोध की रक्षा भी की थी। सभी जानते हैं कि माइकेल एञ्जेलो और बीठोफेन (Beetho-ven), इन दोनों में से एक भी प्रोलेटेरियन नहीं था, और उनकी कला आभिजात्य (aristocratic) भाव के रस में पूर्णतः शराबोर है। माइकेल एञ्जेलो की प्रस्तरकला में किसान-मजूरों के लिए कोई स्थान नहीं है और बीठोफेनके 'सोनाटा' और 'सिम्फोनियों' की मर्मस्पर्शी, करुण-कोमल स्वर लहरी में कहीं मार्क्सियन थिओरी का राग नहीं अलापा गया है; ये सब उच्चश्रेणी—अवकाश-प्राप्त श्रेणी—की संस्कृति के अनुकूल की चीज़ें हैं। गोर्की को विश्वास था कि प्रोलेटेरियन जनता उनका रस पूर्णरूप से ग्रहण कर सकती है, उनसे उनकी मानसिक संस्कृति की उन्नति में (जिसकी परम आवश्यकता है) बहुत सहायता मिल सकती है।

आरम्भ में रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी ने साहित्य तथा कलासम्बन्धी समस्त उच्च श्रेणी की रचनाओं की छुआछूत के भय से वर्जित करके जिस रूखे-सूखे, हरिजन-साहित्य का प्रचार आरम्भ किया था, इतने वर्षों के अनन्तर अब उस श्रेणी के साहित्य से वहां की जनता बेतरह ऊब उठी है। ऐसा होना स्वाभाविक था। श्री नित्यानन्द बनर्जी, जिन्होंने रूस में पर्यटन करके अपना भ्रमण-वृत्तान्त पुस्तकाकार छपाया है, इस सम्बन्ध में लिखते है :—

Peoples were tired of political sermons in newspapers, mass-meetings, factory debates, radios and

cinemas. So they wanted recreation in novels, dramas and paintings instead of political teaching. Many prominent critics voiced their discontent publicly and vehemently. In 1929 Viatchslow Polonsky said in the course of his speech in a dispute about social command in which writers like Kogan, Pilnyak, Brik and others took part, "Our task is to destroy the attitude which regard the artist as a bale of goods...we want the artist to be an organic part of the class to form that sinuosity of the collective brain which by its position in the complex brain system is destined to express the aesthetic, psychological emotional and ideological necessities of collective man......"

अंगरेज़ी न जानने वाले पाठकों को केवल इतना ही बतला देना पर्याप्त होगा कि इस उद्धरण में उन लोगों का भाव ध्वनित होता जो साहित्य-समाज में सुधार के पक्षपाती हैं। इस नवीन सुधारवादी दल की सम्मति में कलाकार तथा साहित्यिक का उद्देश्य राजनीतिक तथा सामाजिक क्रान्तियों का विश्लेषण अथवा प्रचार नहीं, बल्कि मानव-मस्तिष्क के सौन्दर्य मूलक, मनोवैज्ञानिक; रसावेग तथा भावुकता सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति है। इसी सुधारवादी दल की यह भी राय है कि "The (Russian Communist) Party must vigorously oppose thougtless and contemptuous treatment of the old cultural heritage as well as of the literary specialists, It must likewise combat the tendency towards hot house proletarian literature" अर्थात् रूसी कम्यूनिस्ट पार्टी को प्राचीन युग की सांस्कृतिक विचारधारा तथा

साहित्यिक विशेषज्ञों के प्रति अविचारपूर्ण घृणा की प्रवृत्ति का प्रबल विरोध करना चाहिए और कोरे प्रोलेटेरियन साहित्य की मनोवृत्ति के विरुद्ध भी युद्ध करना चाहिए।

रूस से जो नवीन समाचार आ रहे हैं उनसे पता चलता है कि वहां अब शिक्षित जन-साधारण की मनोवृत्ति रोमान्स तथा काव्यमय प्रेम की ओर झुकने लगी है। इसका अर्थ यही है कि वहां के लोग साहित्य तथा कल्पना के क्षेत्र में व्यक्ति की निजी सत्ता को स्वीकार करने लगे हैं, क्योंकि बिना व्यक्तिगत सुख-दुःख की भावना के प्रेम और रोमान्स की अनुभूति स्वभावतः असम्भव है। सामाजिक शासन के क्षेत्र में समूहवाद का बड़ा महत्व है, सन्देह नहीं; पर काव्य जगत् में व्यक्तिवाद का महत्व स्वीकार करना ही पड़ेगा।

रूस ने सत्रह साल के अनुभव के बाद जो सबक सीखा है, हिन्दी-जगत् के नवीन साम्यवादियों पर उसका कोई असर पड़ेगा, इसकी आशा मुझे नहीं है, और मुझे पूरा विश्वास है कि अपनी सांस्कृतिक प्रगति की शैशवावस्था में ही हमारे वर्तमान साहित्य को अनिवार्यतः हरिजनत्व की ओर पीछे हटना पड़ेगा—क्योंकि हवा का रुख ही इस ओर है, इसमें कोई सन्देह नहीं। तथापि साहित्य के आदर्श की उन्नति तथा क्रान्ति के नाम पर उसकी मूलगत महत्ता तथा निगूढ़, गम्भीर पवित्रता की भावना को साहित्यिक कट्टरता बतला कर जो लोग उसे रूस के गिरजों की मूर्तियों की तरह पैर से ठुकराना चाहते हैं, उनसे मेरी पीड़ितात्मा का यथेष्ट मतभेद होने के कारण इस सम्बन्ध में अपनी यथार्थ सम्मति प्रकट कर देना मैंने उचित समझा है। यदि मेरी यह कार्रवाई अनुचित हो तो इसके लिए क्षमा माँगने को तैयार हूँ।

मैं आशा करता हूँ कि मेरे लेख को अन्त तक भली भाँति पढ़ जाने के बाद कोई मुझ पर हरिजनवाद तथा साम्यवाद के विरोध अभियोग नहीं लगायेगा। मैं लेख में पहले ही अपना यह मत प्रकट कर चुका हूँ कि सामाजिक शासन के क्षेत्र में साम्यवाद के सिद्धान्त से बढ़कर दूसरा कोई सिद्धान्त नहीं है; पर साहित्य तथा कला के साम्राज्य में व्यक्तिगत चेतनावाद की ही प्रधानता वांछनीय है जिससे रसात्मक व्यक्ति अपनी उन्नत, सुसंस्कृति और पवित्र वेदनाओं की सूक्ष्म अनुभूति को अत्यन्त परिमार्जित रूप से व्यक्त करने में समर्थ हो सके।

१९३३

प्रगति या दुर्गति ?

हिन्दी-साहित्य में 'प्रगतिशीलता' का आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगा है। इस 'प्रगतिशीलता' की प्रेरणा हमारे साहित्य के नवयुवक नेताओं को कम्यूनिस्ट रूप के प्रारम्भिक युग के साहित्यिक आन्दोलन से मिली है। हमारे प्रगतिपंथियों का कहना है कि राजनीतिक क्षेत्र में जिस प्रकार 'डिक्टेटरशिप आफ दि प्रोलेटेरियट' (मजदूर श्रेणी की जनता का एकाधिपत्य) का सिद्धान्त प्रधानतः मान्य होना चाहिए, उसी प्रकार साहित्य क्षेत्र में भी शोषितवर्ग-सम्बन्धी विषय ही कला के मूल उपकरण के रूप में ग्रहण किये जाने चाहिए। केवल इतना ही नहीं; इन 'प्रगतिपंथियों' ने साहित्य तथा कला की उन सब सुन्दर, मनोहर, सुरुचि-सम्पन्न तथा सम्मार्जित कृतियों को झाड़-झंखाड़ तथा कूड़ा-कचरा करार दे दिया है, जिनका सृजन वाल्मीकि-होमर, कालिदास-शेक्सपीयर, तुलसी-सूर, दान्ते-मिल्टन, चंडीदास-विद्यापति, शेली कीट्स, गेटे-रवीन्द्रनाथ, डास्टएव्सकी-शरच्चन्द्र, गाल्सवर्दी-प्रेमचन्द आदि प्राचीन तथा अर्वाचीन युगों के सभी श्रेष्ट कलाविदों द्वारा हुआ है। विश्वप्राण के अतल में प्रवेश करके उसकी नव-नव हिल्लोलमयी धाराओं के सर्जनोन्मेष को नव-नव वेदनाओं के रसों से स्फूर्जित करनेवाले इन महान कलाकारों की कृतियों को ये प्रगतिपंथी अपने एक फूत्कार (बल्कि थूत्कार) से शून्य में विलीन कर देना चाहते हैं। मानव हृदय की कोमल तथा सुकुमार वेदनाओं, सुन्दर तथा सुरुचिपूर्ण मनोवृत्तियों की कोई सार्थकता हमारे ये तथाकथित साहित्यिक स्वीकार करना नहीं चाहते। स्त्री-पुरुष की मूल प्रकृति में पारस्परिक प्रेम की जो चिदानन्दमयी अनुभूति प्रतिपल नव-नव वैचित्र्यमय रस का

सृजन करती रहती है, उसे वे लोग आत्म-वंचनामूलक सारहीन भावुकता बतलाते हैं।

असल बात यह है कि रूस में संघबद्ध साम्यवाद (कम्यूनिज्म) का शासन-चक्र चलने के प्रारम्भिक युग में लेनिन-प्रमुख नेताओं को कार्ल मार्क्स-प्रमुख साम्यवादी पितामहों के व्यावहारिक तथा 'व्यवसायत्मिक' तत्वयुक्त सिद्धांतों को मानकर चलने के लिए बाध्य होना पड़ा था —क्योंकि इन सिद्धान्तों के व्यवहारिक प्रयोग के बिना वे 'प्रोलेटेरियन' जनता का राजनीतिक एकाधिपत्य क़ायम करने में सफल नहीं हो सकते थे। पर जब धीरे-धीरे साधारण जनता के एकाधिपत्य का राजनीतिक चक्र स्थिरता और दृढ़ता प्राप्त करने लगा, तो रूस में साहित्य तथा समाज-सम्बन्धी विचारों में भी पुनरावर्तन और विवर्तन होने लगा, और आज यह हाल है कि विश्व-साहित्य की जिन अमर कृतियों को हमारे तोतापंथी, अदूरदर्शी प्रगतिशीलतावादी नवयुवक 'कूड़ावादी' कहकर ठुकराना चाहते हैं, उन्हें सोवियट रूस के नवयुवक बड़े चाव से अपनाने लगे हैं।

वास्तविक कला के मूल में चिरन्तन सत्य का जो भाव वर्तमान है, उसपर न तो पूँजीवाद की ही छाप लग सकती है, न साम्यवाद की। कला-तत्व के मर्म में निहित जो सत्य है, वह संग-स्पर्श से एकदम वर्जित, विशुद्ध स्फटिक की तरह निर्लिप्त है। इस अकलंक हीरकोपम स्फटिक पर आप चाहे पूँजीवादियों के सुखालस तथा रसावेशक रंग प्रतिफलित करें, चाहे श्रमजीवियों के विविध वेदनामय हृदय के करुण क्रन्दन अथवा विप्लव तरंगाभिघात के विलोड़न की प्रतिच्छाया अंकित करें—इससे अन्तःसत्य में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। विभिन्न कलाकारों की विभिन्न मनोवृत्तियों का वैचित्र्यपूर्ण परिचय यह स्फटिक प्रदान करता है, और यही इसकी विशेषता है।

हमारे साहित्य की वर्तमान अस्त-व्यस्त परिस्थिति में इधर असाम्यवादी लेखकोंने साम्यवाद के नाम पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से आवश्यकता से अधिक धाँधली मचानी शुरू कर दी है। हिन्दी के वास्तविक साहित्य के निर्माण के इस प्रारम्भिक युद्ध में ही कुछ उत्तरदायित्वहीन नवयुवकों द्वारा उस पर कुठाराघात होने के ये जो आसार दिखाई दे रहे हैं, वे यथेष्ट अनिष्टकर जान पड़ते हैं। इसलिए इस श्रेणी के कच्ची बुद्धि वाले विषम साम्यवादियों को यह सुझा देना आवश्यक हो गया है कि उनका निश्चित स्थान कहाँ पर है। उन्हें कला के मूलतत्व तथा उसके विकास के इतिहास में पूर्णतः परिचित कराने की जरूरत है। उन्हें समझ लेना चाहिए कि चिरन्तन कला का उन्मुक्त स्रोत कभी किसी विशेष मतवाद के बाँध द्वारा आबद्ध नहीं किया जा सकता। कुछ समय के लिए यह चेष्टा भले ही सफल होती दिखाई दे, और कृत्रिम बांध से उस चिर-मुक्त स्रोत का प्रवेग अवरुद्ध होकर कुछ काल के लिए सड़ायन फैलाकर भले ही वातावरण को गन्दा कर डाले, पर यह कृत्रिम अवरोध एक न एक दिन टूट कर ही रहेगा।

साहित्य तथा कला-सम्बन्धी शाश्वतकालीन तत्वों को वर्गवाद की संकुचित सीमा के भीतर आबद्ध करने तथा श्रेणी-संघर्ष के दलदल में घसीट कर उनकी मिट्टी ख़राब करने को अंधी तथा संकीर्ण मनोवृत्ति का संघटन पहले पहल फ्रान्सीसी शब्द-क्रान्ति के अवसर पर यूरोप में हुआ था। पर आश्चर्य है कि यद्यपि इस मनोवृत्ति ने उस युग में यूरोप भर में अत्यन्त प्रबल सार्वजनीन रूप धारण कर लिया था तथापि साहित्य तथा कला-सम्बन्धी संस्कृति उस काल में उन्नति की जिस चरमावस्था को प्राप्त हुई, वैसी यूरोप में कभी किसी युग में नहीं हुई। यह साहित्यिक संस्कृति 'प्रोलेटेरियन' अथवा 'शोषित-वर्गीय' नहीं थी, न यह साम्राज्यवादी अथवा पूँजीवादी ही थी। यह मानवात्मा के

चिरन्तन आवेगों के चिर-विचित्र तथापि चिर-पुरातन, चिर-प्रगतिशील तथापि चिर-निश्चित धारा की लोल-लहरियों से लीला-लास का निःसीम निदर्शन था। वास्तविक कला का उद्देश्य सदा, सब युगों में ऐसा ही रहा है। इस चिर-सत्य के दबाने तथा उसके शाश्वत सौन्दर्य को नष्ट करने की चेष्टाएँ सभ्यता के आदिम युग से लेकर इस समय तक कई बार भिन्न-भिन्न दानवी शक्तियों द्वारा हो चुकी हैं, तथापि यह फिर-फिर नये-नये रूपों में, अज्ञात तथा अप्रत्याशित सूत्रों द्वारा, सुन्दरतर बनकर व्यक्त होता रहा है। उसका अस्तित्व मिटा देने के उद्देश्य से जो विस्फूर्जित आस्फालन तथा सामुद्रिक तर्जन-गर्जन समय-समय पर होते रहे हैं, वे सब अंत में विफल सिद्ध हुए हैं। जिस प्रकार रावण का प्रचंड औद्धत्य राम की विश्व-प्रेममयी, शाश्वत सत्य से पूर्ण तथा चिर-सुन्दर संस्कृति को नष्ट करने के निष्फल प्रयत्न में स्वयं नष्ट हो गया, विश्वामित्र का क्षात्राभिमान प्रसूत क्रांतिवादी रुद्र कोप वसिष्ट के स्थिर-शांत किन्तु अजर-अमर ब्रह्म-बल के आगे निस्तेज पड़ गया, उसी प्रकार कला-रूपी द्रौपदी का चीर बलपूर्वक अपहरण करके राजनीतिक क्रांतिवाद के साथ दुर्धर्षतापूर्वक उसका विवाह कराने की चेष्टा करने वाले उच्छृंखलता वादियों का आस्फालन सब युगों में बार-बार अमर मंगलमयी कला की चिर-स्निग्ध शान्ति मय सुन्दर सौम्यता द्वारा परास्त होता रहा है। शाश्वत नियम ही यही है।

समझ में नहीं आता कि सुन्दर साहित्य के घर्षण में लगे हुए इन प्रगतिपन्थी साम्यवादियों का यथार्थ उद्देश्य क्या है! वे वास्तव में किस तरह का साहित्य चाहते हैं! इस सम्बन्ध में तो दो मत हो ही नहीं सकते कि श्रमजीवियों तथा अन्यान्य शोषितवर्गियों को कला के मन्दिरों में प्रवेश करने का उतना ही अधिकार है, जितना कि 'शोषक-वर्ग' के अन्तर्भुक्त व्यक्तियों को। उच्चकोटि की कला पर न तो 'शोषकों' का ही एकाधिपत्य हो सकता है, न 'शोषितों' का। यदि

किसी कृति में कला के मूल प्राणों का स्पन्दन वर्तमान हो, तो वह सब के लिए समान रूप से उपभोग्य है, चाहे उसका रूप कैसा ही हो। गोर्की की जिन कृतियों में 'प्रोलेटेरियन' जनता का मर्मभेदी हाहाकार तथा दीर्ण क्रन्दन का आर्तनाद व्यक्त हुआ है, उनकी कलामयी कल्पना की महत्ता को प्रत्येक सच्चे रसज्ञ ने स्वीकार किया है, और इन रसज्ञों में से अधिक संख्यक ऐसे हैं, जो 'शोषक' सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त किए जा सकते हैं। उसी प्रकार शेक्सपीयर के जिन नाटकों में केवल राजकीय तथा अभिजातवंशीय स्त्री-पुरुषों के मानसिक संघर्ष-विघर्ष का प्रचंड संघूर्णन तथा विक्षुब्ध विस्फूर्जन विप्लव वेग के साथ आलोड़ित हुआ है, उनकी उद्दाम भावोन्मादमयी वेदनाओं से 'शोषित' श्रेणी की जनता परिपूर्ण सहानुभूति रखती है, यह बात भली-भाँति प्रमाणित हो चुकी है। हमारे प्रगतिशीलतावादी शायद इस बात पर विश्वास नहीं करना चाहेंगे; पर विश्व-विख्यात मनीषी तथा मार्मिक कला-रसज्ञ महात्मा रोमाँ रोलाँ की बात इस सम्बन्ध में उन्हें माननी पड़ेगी, क्योंकि रोमाँ रोलाँ स्वयं कट्टर साम्यवादी हैं —'सोशलिस्ट' श्रेणी के साधारण साम्यवादी नहीं, वह एक नम्बर के कम्यूनिस्ट हैं। उनके तत्वावधान कम्यूनिज्म संबन्धी बहुत-से पत्र फ्रेंच भाषा में प्रकाशित होते रहे हैं। वह जन-साधारण की कलात्मक आकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं की चरितार्थता पर वर्षों से ज़ोर देते आये हैं। अपनी 'टेआत्र दु पप्ल' (Theatre du peuple) अथवा 'जन-साधारण का रङ्गमञ्च' शीर्षक पुस्तक में उन्होंने इस विषय पर विशद रूप से वाद-विवाद किया है। इस पुस्तक का उल्लेख मैं पहले भी दो-एक लेखों में कर चुका हूँ। साधारण श्रेणी की जनता की आन्तरिक रुचि और मानसिक प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण करने के बाद वह इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि शेक्सपीयर के नाटक जन-साधारण की रुचि के लिए सब से उपयुक्त हैं! रोमाँ-रोलाँ का कहना है कि उन्होंने थिएटरों में जाकर

पत्र से निम्न-श्रेणी की सीट में बैठकर बड़े ग़ौर से इस बात का निरीक्षण किया है कि जब रङ्ग मंच पर शेक्सपियर का कोई नाटक खेला जाता है, तो उस समय 'शोषितवर्गीय' दर्शकों के प्रत्येक हावभाव के उत्थान का क्या स्वरूप रहता है। उनकी बात से मालूम होता है कि प्रारम्भ से अन्त तक वे लोग बड़ी उत्सुकता से रङ्ग मंच की प्रत्येक कार्रवाई को देखते रहते हैं। प्रेम की उन्मद उल्लास-भरी लीला का ऐक्टिंग जिस समय होता है, उस समय उनका मुखमण्डल विह्वल भावुकता से उद्भासित हो उठता है; जब प्रतिहिंसा का विक्षोभ अभिनेताओं के वाक्यों तथा भावों में आलोड़ित हो उठता है, तो उस समय 'प्रोलेटेरियन' दर्शकों की आँखों में स्तम्भित व्याकुलता दृष्ट होती है; अन्याय तथा अत्याचार का दृश्य देखकर उन लोगों का खून खौलने लगता है, और वे बेचैनी से दाँतों को पीसने लगते हैं।

रोमाँ रोलाँ को जो अनुभव हुआ है, उसे केवल फ्रान्स की 'प्रोलेटेरियन' जनता तक ही सीमित नहीं समझना चाहिए। यदि हम भारत के जन-साधारण की मनोवृत्ति का अध्ययन करें, तो हमें उनके सम्बन्ध में भी वैसा ही अनुभव होगा। आजकल भारतीय फिल्म कम्पनियाँ जहाँ सैकड़ों ऐसे चित्र निकाल रही हैं, जिनका कला की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है, वहाँ दो-चार फिल्म ऐसे भी निकल पड़ते हैं, जिनमें कला की रसमयी गम्भीरता का अच्छा समावेश रहता है। ऐसे फिल्मों को देखने 'शोषित वर्ग' के जो दर्शक जाते हैं, उनके मन में उस समय प्रत्येक दृश्य से जो विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं, और उन प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप समय-समय पर जो भावोद्गार उनके मुँह से निकलते रहते हैं, यदि ध्यान पूर्वक उन पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि उनमें गम्भीर भावुकता को समझने की अन्तः प्रवृत्ति कितनी प्रबल है।

चूँकि रोमाँ रोलाँ की पूर्वोल्लिखित पुस्तक बहुत पहले— बोल्शेविक

क्रान्ति से भी पूर्व—निकल चुकी थी, इसलिए उसे पढ़कर वर्तमान लेखक के मन में यह शंका बनी हुई थी कि कम्यूनिज़्म की भाव-धारा से प्रणोदित नवीन रूस के तरुण सम्प्रदाय को 'क्लासिकल' साहित्य की रसधारा तरंगित करने में समर्थ होगी या नहीं। साम्यवादी शासन-चक्र के प्रारम्भिक युग में सोवियट रूस में जिस प्रकार का साहित्य पनपने लगा था, उसे देखकर यह शंका और भी दृढ़ होने लगी थी। पर इधर रूस में साहित्य तथा कला-सम्बन्धी रुचि ने फिर से पलटा खाया है, उसे देखते हुए इन पंक्तियों के लेखक के मन में यह विश्वास भली भाँति जम गया है कि कला की मूलसत्ता में जो शाश्वत सत्य निहित है, उसे दबाने की लाख चेष्टाएँ करने पर भी वह फिर-फिर व्यक्त होकर अपने को प्रतिष्ठित करता रहता है।

रोमाँ रोलाँ ने कई वर्ष पहले जिस बात पर ग़ौर किया था, उसकी यथार्थता फिर नये सिरे से प्रमाणित हो रही है। हाल में रूबर्ट ग्रिफिथ नामक एक प्रत्यक्षदर्शी लेखक ने अपनी नव-प्रकाशित पुस्तक में लिखा है कि मास्को में सात दिन के भीतर शेक्सपीयर के चार नाटक खेले गये और जनता ने उन नाटकों का अभिनय देखकर इतना अधिक रस प्राप्त किया कि उस आनन्दोल्लास का वर्णन नहीं हो सकता। केवल शेक्सपीयर के नाटक ही नहीं. गेटे, शिलर, शेरीडन, डिकन्स, बालज़ाक, दुमा (Dumas) आदि तथाकथित 'शोषकवर्गीय' कलाकारों की कृतियों का अभिनय वहाँ नियमित रूप से होने लगा है और लोग बड़े चाव से उनका रसास्वादन करने लगे हैं। यह बात केवल ग्रिफिथ ने ही नहीं कही है, स्वयं कम्यूनिस्ट लेखकों ने कम्यूनिस्ट पत्रों में इसे स्वीकार किया है।

हमारे 'प्रगतिपंथी' लेखक स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम की सुन्दर, स्निग्ध तथा मंगलमय अनुभूति की स्वर्गीय कल्पना को 'शोषकवर्गीय' अथवा 'पूंजीवादी' कवियों की आत्मवंचनामूलक भावुकता समझते हैं.

इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है। मार्क्सवादियों के कोरे सिद्धान्तों को तोते की तरह रटनेवाले इन अनुभूति हीन प्रचारकों को यह सुनकर अपनी आँखें खोलनी चाहिए कि सोवियट रूस का तरुण वर्ग अब प्रेम की महत्ता को नतमस्तक होकर मानने लगा है, और प्रेम विषयक कलामयी कृतियों का जैसा आदर इस समय रूस में हो रहा है, वैसा शायद ही कहीं पाया जाता हो। इसका कारण यही है कि प्रेम का भाव अनन्त रसमय होने के अतिरिक्त शाश्वत सत्य से ओत-प्रोत है और विशेष राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भले ही यह चिरकालीन सत्य प्रचारात्मक विचार-धारा के प्रचलन से कुछ समय के लिए दबा दिया जाय, पर सदा के लिए उसका गला नहीं घोंटा जा सकता। रूस में इस समय वही दशा है, जो बहुत दिनों की प्यास की तड़पन से शुष्क-कण्ठ तथा विकल-हृदय व्यक्ति की हुआ करती है, जब कहीं जल का आभास उसके दृष्टिगोचर होता है। प्रेम-रस को किसी भी रूप में पान करने के लिए वहाँ का जन-समुदाय अधीर हो उठा है। एक फ्रांसीसी लेखक का कहना है कि रोमियो-जूलियट सदृश प्रेमोन्मादमयी रचनाओं के पीछे रूस वाले इस तरह पागल हो उठे हैं कि उनकी भावुकता के प्रभाव में उन्मत्त वेग से बहे जा रहे हैं।

प्रेम का स्रोत जहाँ एक बार उन्मुक्त हुआ, तो फिर वह शत-शत धाराओं में, असंख्य शाखा-प्रशाखाओं में फूटने लगता है, और उसकी मूल गति अनन्त की ओर उद्दाम वेग से बढ़ने लगती है। रूस में भी यही चिन्ह फिर से दिखाई देने लगे हैं। वहाँ के प्रेमरसपिपासु युवक युवती-गण का झुकाव 'रोमान्टिसिज्म' (भावतरंगवाद) की ओर होने लगा है, और वे अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों के रोमांस-वादी लेखकों की रचनाओं को अत्यन्त उत्सुकता पूर्वक अपनाने लगे हैं। हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि सोवियट रूस की समस्त जनता अव्यक्त के सन्धान में अनन्त की ओर उन्मत्त उत्साह से दौड़ी चली

जा रही है। हमारा आशय केवल यही है कि मार्क्सियन सिद्धान्तों ने वहाँ के कलात्मक रस-प्रवाह को कुछ समय के लिए बालू की जिस भीत से बांधने की चेष्टा की थी, वह अब ढहने लगी है और फिर से वहाँ रस का संचार होने लगा है!

इन सब बातों से यही प्रमाणित होता है कि श्रमजीवी श्रेणी की जनता में भाव तथा रसावेगमयी प्रवृत्तियाँ पूर्णतः अन्तर्निहित होती हैं, भले ही कृत्रिम दबाव से कुछ काल के लिए वे अव्यक्त तथा अपरिस्फुट रहें। आवश्यकता इस बात की है कि उनकी रसज्ञता की प्रवृत्ति को कला के सब रूपों, सब रसों तथा सब रङ्गों द्वारा परितृप्त किया जाय और उनकी रुचि को अधिक उन्नत तथा परिमार्जित बनाया जाय। प्रत्येक व्यक्ति की अन्तश्चेतना अपने अन्तस्तल के निभृत लोक में चित्र-विचित्र स्वप्नों का रङ्गीन जाल बुनना चाहती है। बिना इसके वह अपने प्रत्यक्ष जगत् के अवास्तिक अस्तित्व की संकीर्णता तथा क्षुद्रता के बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकती। मानवात्मा की इस परम सत्य तथा अन्तरतम आकांक्षा की चरितार्थता का मार्ग अवरुद्ध करके साहित्य में 'प्रगतिशीलता' के उन्नायकगण किस महान् उद्देश्य की पूर्ति करना चाहते हैं?

व्यावहारिक जगत् में साम्यवाद के सिद्धान्तों की महत्ता को कोई भी समझदार व्यक्ति अस्वीकृत नहीं कर सकता; पर किसी भी समष्टि के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी तथा विशेष सत्ता रखता है। समष्टियों में रहकर सम्बद्ध जीवन व्यतीत करने वाले पशुओं से मनुष्यों की विशेषता यहीं पर है। व्यक्ति के इस अपनेपन की अवज्ञा करके जो लोग कला के क्षेत्र में भी समष्टिवाद लाना चाहते हैं, वे मानव-जाति की चेतना पर भेड़ों की चेतना से अधिक श्रद्धा नहीं रखते, यह निश्चित है। सामाजिक राजनीति के क्षेत्र में आभिजात्य (Aristocracy) निन्दनीय तथा परिहार्य है; पर मनुष्य के अन्तर्लोक की कला-सम्बन्धी

सौन्दर्यानुभूति के क्षेत्र में अभिजात्य का भाव ही चरम आदर्श है। इसीलिए बीसवीं शताब्दी के प्रोलेटेरियन साहित्य प्रधान नेता मैक्सिम गोर्की साहित्य तथा कला के क्षेत्र में 'प्रोलेटेरियन' शब्द के प्रयोग से चिढ़ता था। उसने 'ला रेव्यू नूवेल' नामक फ्रेंच पत्र में एक बार अपने एक लेख में कहा था—"अपने साहित्य के सम्बन्ध में 'प्रोलेटेरियन' शब्द व्यवहृत करना मैं अनुचित समझता हूँ। मैं कभी अपने कर्मकारों तथा कृषकों के साहित्य के लिए यह शब्द काम में नहीं लाता।" श्रमजीवियों की आत्मा के निर्मम निपीड़न के मर्मस्पर्शी चित्र अंकित करते रहने पर भी उसकी कला का मूल प्राण आभिजात्य के भाव से ओत-प्रोत रहा है और उसका प्रत्येक नायक अपनी व्यक्तिगत सत्ता की महत्ता से महीयान है। सहस्रों निर्यातनों के संघर्ष में रहने पर भी उसके उपन्यासों तथा कहानियों का प्रत्येक चरित्र अपनी अन्तरात्मा में आभिजात्य के समुन्नत अभिमान का भाव पोषित किए रहता है। कलाकार की विशेषता तुच्छतम व्यक्ति के भीतर निहित अपनेपन की इसी गौरवमयी अनुभूति को सुन्दर रूप से अभिव्यंजित करने में है। यदि हमारे अपरिणत-मस्तिष्क उत्साही नवयुवक साहित्य के इस चरम तथ्य की उपेक्षा करके कला को केवल शोषितवर्ग की समष्टिगत व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बनाने में प्रयोजित करना चाहेंगे, तो उसे प्रगति न कहकर हम घोर दुर्गति ही समझेंगे।

१९३८

मेघदूत रहस्य

हमारे साहित्यालोचकों ने कालिदास के काव्यों की व्याख्या इतने संकीर्ण रूप से की है जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती। समझ में नहीं आता कि क्यों वे लोग इतने पर भी उन्हें महाकवि कहने में नहीं सकुचाते। "उपमा कालिदासस्य" केवल इसी उक्ति को वे लोग कालिदास की प्रतिभा के परिचय के लिये पर्याप्त समझते हैं। बहुत हुआ तो उनके शृङ्गार-रस वर्णन की प्रशंसा कर दी जाती है। जिस महाकवि की कविता में विश्व-प्रकृति की अन्तरात्मा का निगूढ़ रहस्य तथा अनन्त सौंदर्य प्रस्फुटित हुआ है, जिस श्रेष्ठ कलाविद् की रचनाओं में भगवान के आनन्दमय-स्वरूप की छटा दिखाई देती है, और जिसके गायन में अनन्त सङ्गीत का मूल स्वर ध्वनित हो उठा है, उसके काव्यों का इन समालोचकों द्वारा इस प्रकार अत्यन्त निर्दयता के साथ खून होता हुआ देख वास्तव में दिल दहल उठता है।

हमारे रीति-काव्य के साहित्य के उपासकों में अलंकार-शास्त्र द्वारा किसी कविता की श्रेष्ठता की परख करने की प्रथा चली हुई है। यही कारण है कि उन लोगों ने जयदेव की "निन्दति चन्दनमिन्दु-किरण-मनुविन्दति खेदम् धीरम्" आदि पदावलियों अथवा विहारी के "अञ्जन रञ्जन हूँ बिना खञ्जन गञ्जन नैन" आदि दोहों की प्रशंसा अत्यन्त पुलकित चित्त से की है, पर कालिदास के—

> त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः।
> प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः॥

जैसे अत्यन्त स्निग्ध, स्नेहरसमण्डित तथा सहृदयता पूर्ण पदों का

दिल खोलकर रसास्वादन करने में वे लोग असमर्थ रहे हैं। इस अत्यन्त सरल पर सरस पद को कालिदास ने अपने स्निग्ध, करुण तथा मधुर रस से अत्यन्त सुन्दरता के साथ सिञ्चित कर डाला है। उन्होंने इसके द्वारा यह दिखलाया है कि नर-नारी के उन्मत्त प्रेम का वर्णन करने का उन्हें पूरा अधिकार है। मूल प्रकृति की सकरुण कोमलता का अमृतमय रस भिन्न-भिन्न स्वरूपों में अपने को व्यक्त करता है, पर उस रस की कमनीयता सर्वत्र समान है। माता-पुत्र तथा भाई-बहन के बीच सुललित स्नेह का जो भाव वर्त्तमान रहता है उसके भीतर की कमनीयता तथा प्रेमिक-प्रेमिका के मधुर प्रणय के लालित्य में विशेष अन्तर नहीं पाया जा सकता। जिस कवि की हृदयानुभूति अत्यन्त तीव्र तथा जीवित होती है वह प्रत्येक रूप में इस कमनीयता का रसास्वादन कर लेता है। वह अलकापुरी की प्रियतम-ध्यान-मग्ना, विरह-व्यथिता, मदन-ताप जर्जरिता कामिनी के उष्णोच्छ्वास में जिस मधुर अतीन्द्रिय तथा आध्यात्मिक रस का आस्वादन करता है, प्रीति स्निग्ध दृष्टि से नवीन मेघ की ओर ताकने वाली भ्रूविलासानभिज्ञ जन-पदवधू का कल्पना भी उसके हृदय में उसी प्रकार का मधुमय रस सिञ्चित करती है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में सखियों के बीच का पारस्परिक स्नेह, समग्र तपोवन वासियों का शकुन्तला के प्रति अपूर्व वात्सल्य-भाव, तरुलता, पशुपक्षी के प्रति शकुन्तला अत्यन्त स्वाभाविक सौहार्द्य का चित्र प्रस्फुटित करके तथा इन सब भावों के साथ ही साथ दुष्यन्त के प्रति उसके कामजन्य अपूर्व प्रणय की छवि अङ्कित करके कालिदास ने अन्त की प्रकृति के आनन्दमय रूप के इन भिन्न-भिन्न स्वरूपों की परिणति एक रूप में दिखलाई है। जो कवि शृंगार रस को वाह्येन्द्रिय की तृप्ति की सामग्री समझ कर उसका वर्णन करने बैठता है वह भ्रूविलासानभिज्ञ वधू की प्रीति-स्निग्ध दृष्टि में विशेष आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता। वह प्रमत्त प्रणय का वर्णन करते करते उसकी मत्तता में

बह जाता है, पर उस प्रणय के भाव को अपने वश में करके उसका माधुर्य निःसारित करना नहीं जानता।

'मेघदूत' की व्याख्या करते हुए हमारे अधिकांश साहित्यालोचक लिखा करते हैं कि इसमें प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अच्छी तरह से किया गया है और इस काव्य की विशेषता इसी में है। वे लोग इस बात का ख़याल नहीं करते कि यदि केवल प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में ही इस अमर काव्य की विशेषता होती तो वह संसार के प्रायः सभी श्रेष्ठ कवियों तथा गुणिजनों के इतने अधिक आदर की सामग्री कदापि न होता। क्योंकि ऐसे हज़ारों नगण्य काव्य संसार-साहित्य में भरे पड़े हैं जिनमें प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन बड़े कौशल के साथ किया गया है। अलङ्कार-शास्त्र में जिस प्रकार शृङ्गार, करुण, हास्य आदि रसों का वर्णन पाया जाता है उसी प्रकार संसार के श्रेष्ठ गीति-कवियों की रचनाओं में एक ऐसे रस का परिचय पाया जाता है जिसका प्राकृतिक दृश्यों के साथ बहुत कुछ सम्बन्ध रहता है। पर प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन उस रस का मुख्य उद्देश्य नहीं है। उस रस की गति प्रकृति के वाह्यावरण को भेद कर उसके बहुत भीतर प्रवेश करती है। इस रस को हम नैसर्गिक रस कह सकते हैं। मेघदूत के पूर्व भाग में इसी रस की प्रधानता पाई जाती है। अलङ्कार शास्त्र के कृत्रिम नियमों की दुहाई देने वाले इस स्वतःस्फूर्त रस का अनुभव किस प्रकार कर सकते हैं!

बहुधा लोगों को कहते हुए सुना जाता है कि कवि लोगों की कल्पना एक सम्पूर्ण अवास्तविक लोक से प्रसूत होकर आती है। अब देखना चाहिए कि यह धारणा कहाँ तक ठीक है। इस प्रश्न की मीमांसा करने के पहले इस बात पर विचार करना होगा कि वास्तविकता है क्या चीज़। हमारी जिस माता ने हमें अत्यन्त यत्न के साथ अपने स्नेह-रस द्वारा लालित किया है उसकी वास्तविकता का विचार यदि हम उसके वाह्य रूप और वाह्याचरण द्वारा

करने लगें और उसकी स्नेहवृत्ति को प्राणि-विज्ञान-वेत्ताओं के अनुसार केवल सन्तान-पालन के लिए उपयुक्त वृत्ति की दृष्टि से ही देखें तो हमारे हृदय में उसके प्रति कृतज्ञता का भाव अवश्य उत्पन्न हो सकता है, पर हम उसके प्रति भक्ति के उस अनन्त सौंदर्यमय भाव का अनुभव कदापि नहीं कर सकते जो हमारी आत्मा के अन्तरतम प्रदेश से उद्‌भूत होता है। इस अनुपम भाव का अनुभव करने के लिए हमें माता के वाह्य स्वरूप को उसका वास्तविक स्वरूप न समझ कर उसके वाह्य जीवन के समस्त कार्यों की आड़ में जो एक आध्यात्मिक जीवन का अन्तःसलिल स्रोत निरन्तर बहता जाता है, उसी को उसका वास्तविक जीवन मानना पड़ता है; कारण कि उसी के द्वारा उसके वास्तविक स्वरूप की छाया हमारे हृदय-पटल पर प्रगाढ़ रूप से अंकित हो जाती है। माता के इस आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान बुद्धि द्वारा बोधगम्य हो सकता है, पर वह इन्द्रियों से परे है। साथ ही उसके मातृत्व के निष्कलुष, पवित्र भाव का अनुभव करके जिस अनन्त लोक से हमारे हृदय में भक्ति का भाव उत्सारित होता है वह अतीन्द्रिय होने पर भी अवास्तविक नहीं है। यही बात विश्व-प्रकृति के सभी रूप तथा सभी रसों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जो कवि प्राकृतिक दृश्यों के वाह्य-स्वरूप को ही सब कुछ समझ कर उसी का गुण गाने लगता है वह दया का पात्र है। श्रेष्ठ कवि सर्वदा प्रकृति के अभ्यन्तर में स्थित वास्तविकता का ही आदर करता है और उसी का गीत गाता है। जब किसी कल-नादिनी नदी के निर्जन-तट के ऊपर से हम हंस-श्रेणी को उड़ते हुए देखते हैं तो एक अपूर्व सौंदर्य की तरङ्ग हमारी आँखों के सामने खेलने लगती है। इस नगण्य दृश्य के द्वारा हम एक अनन्त लोक के सौंदर्य का अनुभव करने लगते हैं और हमें सच्चिदानन्द के आनन्दमय रूप का परिचय स्वतः मिलने लगता है। इस दृश्य के जिस रूप का अनुभव हम

इन्द्रियों द्वारा करते हैं उसके द्वारा हम कदापि अनन्तलोक का परिचय नहीं पा सकते। हंसों के परों की कोमलता, उनके रङ्ग की सफेदी, नदी-जल की स्वच्छता आदि गुण वाह्य-सौंदर्य के लक्षण हैं। पर जो भाव इन्द्रियों से अतीत है, जिसके द्वारा विश्व-प्रकृति के छिन्न विछिन्न सौंदर्य में सामञ्जस्य का अनुभव होता है उसका परिचय इस वाह्य-रूप से प्राप्त नहीं हो सकता। इस भाव का अनुभव हम तभी कर सकते हैं, जब हम इस दृश्य की आड़ में छिपी हुई सत्ता का ज्ञान प्राप्त करें। कवि की कल्पना हमें वस्तु की इसी आभ्यन्तरिक सत्ता का अनुभव कराती है। कालिदास ने मेघदूत में जिस कल्पना का परिचय दिया है वह कदापि उनकी खामखयाली नहीं कही जा सकती। वह हमें निखिल विश्व के अनन्त तथा वास्तविक सौंदर्य से परिचित कराती है।

उपनिषत् में कहा गया है "आनन्दरूपममृतं यद्विभाति", अर्थात् इस निखिल जगत् में जो कुछ भी प्रकाशित होता है वही परम तत्व का आनन्दमय अमृतरूप है। किन्तु सभी लोग तो स्वतः इस अमृत रूप से परिचित नहीं होते। हम लोग वस्तु के वाह्यरूप और वाह्य सौंदर्य पर ही मुग्ध हो सकते हैं, पर उसके भीतर जो आनन्द रूप विराज रहा है, उसका तो हमें कुछ भी पता नहीं चलता। पर कवि अपनी सौंदर्यमयी रचना द्वारा जब हमारी आँखों में ज्ञानाञ्जन-शलाका लगाता है तो हमारे सामने अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उस अमृत रूप का आभास कुछ न कुछ अंश में अवश्य झलकने लगता है। यह आनन्दमय रूप ही प्रत्येक वस्तु का वास्तविक रूप है।

जब हम वर्षा के आरम्भ में स्निग्ध गम्भीर घोष करने वाले जलधर का नवीन कलेवर देखते हैं तो चित्र में स्वतः जन्म-जन्मान्तर-व्यापी विरह का एक अपूर्व भाव सञ्चारित होता है। इस जन्म में पूर्व जन्म से जो विच्छेद हो गया है उसका दुःख हमारे हृदय के

पूर्व जन्म से जो विच्छेद हो गया उसका दुःख हमारे हृदय के अन्तस्तल में हमारे अनजान में जन्म के प्रारम्भ से ही निरन्तर आलोड़ित होता रहता है। वर्षा के प्रारम्भ में नवीन मेघ के दर्शन से हमारे पूर्व जन्म की प्रियतम स्मृतियों का स्पष्ट आभास इस जन्म की करुणा-पूरित मधुर वेदनाओं के साथ मिश्रित होकर हमारे रोम रोम में एक आनन्दमय पुलक संचारित कर देता है। यह भाव केवल विरही ही नहीं, सुखी जनों के चित्त में भी एक अन्यमनस्क भाव ला देता है। इसीलिए कालिदास ने कहा—'मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथा वृत्तिचेत: ।' इसी मूल भाव को लेकर कालिदास ने मेघदूत की रचना की है। इसी भाव को लेकर इस रचना में उन्होंने विश्व प्रकृति की अन्तरात्मा के भीतर स्थित रस को धीरे धीरे अत्यन्त तृप्ति के साथ ग्रहण किया है।

वर्षाकाल में जब हम आकाश में गर्भाधान के क्षण से परिचित हंसगण को बलाका बाँधकर आनन्द के साथ उड़ते हुए देखते हैं, जम्बू कुञ्ज की श्यामल-समृद्धि का रस ग्रहण करते हैं, सजल नयन शुक्लापांग की पुलक का स्मरण करते हैं, हरित कपिश वर्ण वाले कदम्ब वृक्षों को निरीक्षण करने वाले सारङ्गों का अवलोकन करने लगते हैं, पौरंगनाओं के विद्युद्दाम कटाक्ष और जनपद-वधू की प्रीतिस्निग्ध दृष्टि के आनन्द का उपभोग करते हैं, निर्जन नगरी की छतों पर रात्रि के समय सुप्त पारावतों की याद करते हैं और चातकों का मधुर नाद सुनते हैं, तो तरुलता, कीट-पतङ्ग, पशुपक्षी, जल-स्थल के साथ मानव-हृदय का युग युगान्त व्यापी सौहार्द का जो भाव उसके अत्यन्त तल-प्रदेश में दबा हुआ रहता है वह धीरे धीरे स्फुरित होने लगता है। जिस ब्रह्म ने सृष्टि के आरम्भ में कहा था—एकोऽहं बहुस्याम्'—एक मैं बहुत रूपों में प्रकट होऊँगा—उसका अद्वैत रूप इस आश्चर्य-प्रद अनुभूति के द्वारा झलकने लगता है। हमें यह भी

मालूम होने लगता है कि यह जो रमणीय दृश्य हम देख रहे हैं और मधुर शब्द श्रवण कर रहे हैं इन सब की प्रिय-स्मृति का नाश इसी जन्म में हमारे देहावसान के साथ ही नहीं हो जायगा, यह प्रिय अनुभूति जन्म से जन्मान्तर को अनन्त काल के लिए धावित होती रहती है।

काम का जो भाव मनुष्य की अनन्तकाल व्यापी चेतना को निरन्तर प्रदीप्त करता जाता है, उसके भीतर कितने प्रकार के मधुर रस, कितने प्रकार के रङ्ग भरे हुए हैं, इसका कुछ ठिकाना भी है! इन रसों के मूल सत्त्व में मत्तता नहीं है, आनन्द है; प्रवृत्ति की ताड़ना नहीं है, विलास है; तिक्तता नहीं है, माधुर्य है।

लेकिन इसका भोग करने के लिए गहरी अन्तरानुभूति चाहिये। अन्यथा जिस कवि अथवा रसज्ञ में यह मर्मानुभूति नहीं होती वह पाशविक प्रवृत्ति को उत्तेजित करने वाले क्षण-स्थायी रस का आस्वादन ही कर सकता है; जो रस जन्म जन्मान्तर के साथ हमारे हृदय का संयोग कराता है, उसका अनुभव वह तिलमात्र भी नहीं कर सकता। कालिदास की संयत तथा निर्लिप्त प्रकृति और मर्मगत अनुभूति ने उनके सौंदर्य-पिपासु हृदय को सौंदर्य का यही अमृतमय रस पान कराया है। समस्त विश्व प्रकृति के अनन्त प्राण के भीतर अनंत काल से जो अमृत चिदानन्दमय ब्रह्म की रसमय अनुभूति से उत्सारित होकर बहता जाता है उसी के स्रोत में नरनारी के युगल-सम्मिलन से निःसृत कामरस को एकीभूत कर देने से उसके भीतर भी ब्रह्म का आनन्द रूप प्रतिभात होने लगता है। अलकापुरी के नर-नारियों ने इस कामजन्य अमृतमय रस का अनुभव कर लिया है, इसी कारण चिरकाल से इसे पान करके भी वे तृप्त नहीं हैं—

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्रनान्यैर्निमित्तैः
नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।

नाप्यन्यस्माद् प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्तिः
वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥

उच्च साहित्य का उद्देश्य सर्वदा यही रहा है कि उसके द्वारा सौन्दर्य तथा रस के सृष्टिकर्त्ता का चिदानन्दमय स्वरूप, क्या जड़ क्या चेतन, सभी पदार्थों में हमारी दृष्टि के आगे प्रतिभात हो जाय। जो कवि सौंदर्य के मूल सृष्टि-कर्त्ता से कुछ भी सरोकार न रखकर काव्य द्वारा रस-सृष्टि करना चाहता है, वह स्वाभाविक नियम के प्रतिकूल काम करता है और अपने आपको ठगता है। कालिदास ने "मेघदूत" में नर-नारी के उत्कट प्रेम का चित्र खींचकर जो आनन्द पाया है उसे उन्होंने अकेले भोग करना नहीं चाहा है। "एकोहं बहुस्याम्" यह वाक्य जिस सृष्टिकर्त्ता ने घोषित किया था उसने जिन-जिन स्वरूपों में अपने को प्रकट किया है, उन सब को उन्होंने इस आनन्द यज्ञ में निमन्त्रित किया है, जिससे उसके अद्वैत भाव की महिमा परिस्फुट हो उठे; और यह बात स्पष्ट हो जाय कि जो प्राण इस तृण के भीतर संचारित हो रहा है उसी के बल से यह सुन्दर लता लहलहा रही है, उसी के कारण यह रमणीय पुष्प प्रफुल्लित हो रहा है, उसी के बल से यह नदी कलनाद करती हुई बही जा रही है, उसी की अनुभूति से यह हंस-बलाका अत्यन्त प्रसन्न चित्त से आकाश में उड़ान भर रही है, उसी के संयोग से यह गुरु-गम्भीर गर्जन करनेवाला नील मेघ ऊपर से पृथ्वी पर अपनी स्निग्ध भिन्नाजंन माया विस्तारित कर रहा है, उसी की चेतना से यह सुन्दर पुच्छ वाला मयूर मनोहर नृत्य कर रहा है, उसी के ज्ञान से रसिक नर नारी अलकापुरी में सुमधुर क्रीड़ा में रत हैं। निखिल विश्व में इसी प्रकार अनन्त प्राण का खेल चल रहा है। विश्व प्रकृति के सौन्दर्य के भीतर इस अनन्त प्राण की खोज करना मेघदूत रचना क उद्देश्य रहा है। केवल कालि-

दास ही नहीं, संसार के सभी श्रेष्ठ गीत कवियों का लक्ष्य सर्वदा यही रहा है। सब इसी आनन्द यज्ञकेरोहि संकीर्ण भावों वाला कवि प्रकृति के साथ अपने प्राण के ऐक्य का अनुभव नहीं करता। वह यह बात समझ कर भी नहीं समझता कि प्राकृतिक दृश्य उसे इसीलिए आनन्द दान कर रहे हैं कि उनके भीतर प्राण की धारा वह रही है जो उसकी आत्मा के भीतर प्रवाहित हो रही है। "सर्व ब्रह्ममयं जगत्" के भाव की उपलब्धि ही साहित्य-साधना का चरम फल है।

इस भाव को मन में रखकर मेघदूत पढ़ने से इस अनिन्द्य-सुन्दर काव्य की महिमा दृष्टिगोचर हो सकती है।

१९२४

— —

साहित्य-सम्बन्धी कतिपय तथ्य

१

आधुनिक युग आदर्शवाद तथा वास्तववाद के सम्मिश्रण का युग है। इस युग के साहित्यालोचक तथा साहित्योपासकगण कला-सम्बन्धी किसी रचना की श्रेष्ठता की परख इसी कसौटी द्वारा किया करते हैं। कहना नहीं होगा कि इस कसौटी में संसार-साहित्य की बहुत कम रचनायें खरी उतरती हैं, जिन रचनाओं को अधिकांश साहित्यालोचक श्रेष्ठ समझते आये हैं, उनकी इस कसौटी द्वारा परख होने से उनमें से कई रचनायें खोटी निकलेंगी। साहित्यालोचना की इस कसौटी के प्रवर्त्तक पश्चिम में टाल्सटाय हुए हैं। उनकी मृत्यु के बाद उनकी आलोचनाओं का साहित्य संसार में बहुत प्रभाव पड़ा जो उनके योग्य-तम शिष्य रोमां रोलाँ द्वारा अधिक बढ़ गया। पूर्व में इस आलोचना-दर्श के उन्नायक रवीन्द्रनाथ हुए हैं।

हिन्दी में 'आदर्श' शब्द का अत्यन्त संकीर्ण तथा विकृत अर्थ किया जाता है। इसी कारण 'प्रभा' की दिसम्बर (१९२३) की संख्या में रोमा रोलाँ की जो जीवनी छपी है उसमें मैं Idealism के बदले 'आध्यात्मिकता' शब्द को काम में लाया हूँ। Idealism शब्द Idea से निकला है, जिसका अर्थ है भाव। भाव का आत्मा के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। इसीलिये उक्त शब्द के बदले मैंने 'आध्यात्मिकता' का व्यवहार किया है। (स्मरण रहे कि इस लेख में 'आत्मा' शब्द का व्यवहार वैदान्तिक अर्थ में नहीं किया गया है। जिसे अँग्रेजी में soul कहते हैं, उसी अर्थ में यह शब्द व्यवहृत किया जायगा)। आदर्श-भाव का तात्पर्य कुछ लोग तुच्छ नैतिक श्रेष्ठता समझते हैं।

जब किसी रचना में लेखक क्षुद्र नैतिक उपदेश भर देता है तो ऐसे लोग कह बैठते हैं कि इसमें अत्युच्च आदर्श दर्शाए गये हैं। 'आदर्श' शब्द का यह संकीर्ण उपयोग देखकर वास्तव में दुःख होता है। आदर्श किसे कहेंगे? मानवी आत्मा की महत्तम वृत्तियों का विकास जब पूर्णता प्राप्त कर लेता है तब वह वृत्तियाँ जिन-जिन स्वरूपों में अपने को प्रकट करती हैं वे आदर्श कहलाते हैं।

कालिदास का अभिज्ञान-शाकुन्तल आदर्शात्मक रचना है। हिन्दी के अधिकांश साहित्यालोचकों का कहना है कि इस ग्रन्थ में कालिदास का मूल उद्देश्य केवल शृङ्गार-रस प्रस्फुटित करने का रहा है। वे लोग इस विश्व-वन्दनीय काव्य में कालिदास की ललित शब्द-रचना तथा कोमल-कान्त-पदावली देखकर ही मुग्ध हैं। वे दुष्यन्त तथा शकुन्तला का प्रणयालाप पढ़कर ही तृप्त हैं, और 'हला पिय सहि!' पढ़कर शकुन्तला की सखियों के श्रुति मधुर आह्वान का स्मरण करके ही पुलकित हो जाते हैं। वे नव-रसाल-मंजरी की शोभा और सुगन्धि से ही मोहित होकर प्रसन्न रहते हैं, और इस बात पर विचार करने का धैर्य उनमें नहीं रहता कि इस मंजरी की परिणति कहां पर है। यदि शकुन्तला नाटक कालिदास ने केवल नवीन प्रेमिका के चंचल प्रेम का राग अलापने के लिए ही लिखा होता, तो अत्यन्त कोमल तथा कान्त पदावली और ललित उपमाओं के होने पर भी वह-रचना कभी स्थायित्व प्राप्त न कर सकती। कालिदास जानते थे कि शकुन्तला के प्रथम यौवन का वह विलास-लालसामय प्रेम व्यर्थ तथा शिव और सुन्दर से हीन है, और उसे लेकर कभी कोई श्रेष्ठ रचना नहीं रची जा सकती। पर काम-रस के भीतर एक प्रचण्ड सत्य ठीक उसी प्रकार वर्तमान रहता है जिस प्रकार पंक के भीतर कमल का बीज। पंक के भीतर होने पर भी इस बीज की अवज्ञा नहीं की जा सकती। कालिदास की दृष्टि समस्त काव्य में केन्द्रस्थ होकर इसी सत्य पर जाकर ठहरी है। इस

सत्य के विकास की परिणति दिखलाना ही उनका मूल उद्देश्य रहा है।

गेटे ने शकुन्तला-नाटक पर मुग्ध होकर लिखा है:—

"क्या तू तरुण वयस का मुकुल और परिणत वयस का फल (एक साथ) चाहती है ? क्या तू ऐसी वस्तु चाहती है जो (आत्मा को) सम्मोहित और पुलकित करे, और जो उसके क्षुधा की शान्ति करे तथा उसे खाद्य द्वारा परिपुष्ट करे ? क्या तू चाहती है कि स्वर्ग और मर्त्य का तात्पर्य एक ही नाम द्वारा विदित हो जाय ? तो हे शकुन्तले ? मैं तेरा नाम लेता हूँ और उसके भीतर ये सब बातें आ जाती हैं।"

गेटे की इन पंक्तियों से स्पष्ट विदित हो जाता है कि वह ग्रन्थ के आरम्भ में नव-रसाल मंजरी का लालित्य तथा माधुर्य देखकर ही अन्ध नहीं हो गया है। वह जानता है कि इस ललित मंजरी की सार्थकता फल के रूप में परिणत होने में है। नारी के प्रेम की चरम सार्थकता मातृत्व में है। नारी का प्रेम चिरकाल इसीलिये महत् गिना गया है कि उसकी परिणति मातृत्व में है। शकुन्तला के प्रथम यौवन का प्रेम जो तरुण वयस के मुकुल के समान था, वह उसके मातृत्व के रूप में फलीभूत होता है और उसकी परिणति सर्वदमन की उत्पत्ति में होती है। उसके परिणत वयस का फल उसका पुत्र सर्वदमन है। जब शकुन्तला के चंचल प्रेम में आघात पहुँचता है, जब दुष्यन्त उसे अपनी स्त्री होने से अस्वीकार करते हैं, तो वह अपने पति को निबिड़ घृणा के साथ धिक्कारती है। यह धिक्कार प्रेम की चंचलता का लक्षण है। यह धिक्कार उसके हृदय-रूपी समुद्र का फेन है, जिसे देख कर समुद्र के वास्तविक रूप का भ्रम होता है; पर समुद्र का रूप वास्तव में वैसा नहीं है। समुद्र का भीतरी रूप अत्यन्त गम्भीर तथा प्रशान्त है। शकुन्तला के हृदय के निगूढ़तम प्रदेश में दुष्यन्त के के प्रति प्रेम का जो भाव वर्तमान था, वह उसके अनजान में भीतर ही

भीतर शान्त तथा स्थिर होकर विराज रहा था। उन दोनों के विरह के बाद वह शिव तथा सुन्दर से युक्त शान्तिमय प्रेम धीरे-धीरे अपना रूप प्रकट करता जाता है। फिर शकुन्तला के मन में अपने प्रेमास्पद के प्रति कोई मान तथा क्रोध का भाव वर्तमान नहीं रहता और वे दोनों विरह के भीतर ही मिलन का भाव पाते हैं। और जब इन्द्रलोक में पुत्र के सामने पति-पत्नी का यथार्थ मिलन होता है तो वह दृश्य कितना निर्विकार, स्निग्ध तथा सुन्दर हो जाता है। ग्रन्थ के आरम्भ में प्रदर्शित शृङ्गार-रस की चरम सार्थकता इसी भाव के प्रस्फुटन में है। इसलिए गेटे ने लिखा है कि स्वर्ग और मर्त्य शकुन्तला में एक साथ पाये जाते हैं। शकुन्तला का चंचल प्रेम मर्त्य का भाव जतलाता है और उसका मातृबोधक मंगलमय रूप स्वर्ग का।

इस नाटक में मनुष्य की चित्तवृत्तियों का अत्यन्त सूक्ष्म तथा सुन्दर वर्णन करके कालिदास ने प्रेम की यह जो अपूर्व परिणति दिखलाई है, यही आदर्श है। कितनी रसमय रचना है और साथ ही कितनी मंगलप्रद है! रस के साथ महत् आदर्श का इतना सुन्दर समावेश संसार का अन्य कोई भी कवि दिखला सका है या नहीं, इसमें सन्देह है। शिव और सुन्दर का संयोग इसमें इतने अच्छे ढंग से दिखलाए जाने के कारण ही रचना चिरन्तन काल के लिए अमर हो गई है। यदि कालिदास तात्कालिक किसी सामाजिक अथवा राजनीतिक आन्दोलन को लेकर किसी सिद्धान्त विशेष के प्रचार के लिए कोई काव्य रचते, तो उनकी रचना दस साल के अन्दर ही लोप हो जाती। यदि वह मनुष्य को नैतिक उपदेश देने के लिये किसी नाटक की रचना करते तो उनका महत्व भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता। पर वह जानते थे कि मानवी आत्मा का उत्कर्ष अनन्त के साथ मिलित है और वह राजनीतिक आन्दोलन तथा नैतिक उपदेशों से बहुत आगे बढ़ा हुआ है। वह जानते थे कि मानवी आत्मा का सत्य चिरन्तन है और वह

साधारण तात्विक सत्य से बहुत ऊँचा है। इस प्रचण्ड सत्य को मिटाने की सामर्थ्य विधाता में भी है या नहीं, इसमें सन्देह है।

अब पाठक समझ गये होंगे कि आदर्श-भाव लोकहित की शिक्षा की अपेक्षा बहुत उन्नत है। आदर्श का सम्बन्ध आत्मा से है और लोकहित की शिक्षा का तुच्छ सांसारिक नियमों से। पंचतन्त्र के उपदेश और चाणक्य की नीतियाँ संसारी मनुष्य के लिए उपयोगी हैं। पर उनमें वर्णित सत्य गीता तथा उपनिषत् के महत् भावों के सामने बिलकुल फीका तथा तुच्छ हो जाता है। इसी तरह किसी श्रेष्ठ कवि की आदर्शात्मक रचना के सामने भी उक्त उपदेश ढोंग मालूम देते हैं। श्रेष्ठ कवि नीति का बन्धन नहीं मानता। वह जानता है कि वह जिस प्रचण्ड सत्य को प्रतिष्ठित करने बैठा है, उसके सामने नैतिक नियम नगण्य हैं। वह आगे को बढ़ता ही जाता है और इस बात की परवाह भी नहीं करता कि उसके उद्देश्य के नीचे नीति के नियम साबूत बचे हैं या दलित हो गये हैं। वर्त्तमान को लेकर ही वह काव्य नहीं रचता। भविष्य की ओर भी उसकी दृष्टि जाती है। वह जानता है कि साधारण नीति देश और काल के भेद से बदलती जाती है; इस कारण उनका पालन वह आवश्यक नहीं समझता।

२

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि आदर्शात्मक रचना ही श्रेष्ट रचना है, तो कालिदास का मेघदूत श्रेष्ठ गीति-काव्य क्यों गिना जाता है और प्रेम-सम्बन्धी कविताओं का स्थान संसार में सबसे ऊँचा क्यों है? प्रश्न जटिल है, इसमें सन्देह नहीं। इसलिए इस पर ध्यान-पूर्वक विचार करना होगा। आदर्श किसे कहना चाहिए, इसकी व्याख्या करते हुए हम आरम्भ में लिख आये हैं कि मानवी आत्मा की महत्तम

वृत्तियों का विकास जब पूर्णता प्राप्त कर लेता है तब वह वृत्तियाँ जिन-जिन स्वरूपों में अपने को व्यक्त करती हैं वे ही आदर्श कहलाये जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि मनुष्य की आत्मा के भीतर जो रस का भाव भरा हुआ है वह महत्तम वृत्ति है या नहीं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों को लेकर ही चेतन प्रकृति बनी हुई है। रस का अस्तित्व होने से ही आध्यात्मवादी अनन्त प्रेममय ब्रह्म के अस्तित्व का अनुभव करते हैं। उपनिषत् में ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा गया है "रसो वै सः" अर्थात् वह रसमय है। इस कारण रस का भाव महत्तम वृत्तियों में ही गिना जायगा और उसका विकास जब पूर्णता प्राप्त कर लेता है तब वह जिस-किसी भी रूप में प्रकट होता है, उसे हम आदर्श कहेंगे। अतएव कालिदास का मेघदूत, संसार के अन्यान्य कवियों द्वारा रचित प्रेम-सम्बन्धी कवितायें आदर्शात्मक हैं।

मुझे पूरा विश्वास है कि ऊपर की उक्ति पढ़ते ही 'मातृभाषा गौरव' का बहुत ज़्यादा ख्याल रखनेवाले पाठकगण इस सिद्धान्त पर पहुँचने की शीघ्रता करेंगे कि हिन्दी संसार के जनप्रिय तथा प्रेमस्पद कवि देव और विहारी की रचनायें भी आदर्शात्मक तथा श्रेष्ठ हैं। पर खेद है कि मैं इतना अधिक मातृभक्त नहीं हो उठा हूँ कि अपने मातृ-भण्डार की आवर्जना को भी अमूल्य वस्तु बतलाऊँ।

कालिदास का मेघदूत तथा रवीन्द्रनाथ आदि कवियों की प्रेम-सम्बन्धी रचनाओं को श्रेष्ठ तथा आदर्शात्मक घोषित करने पर और देव, विहारी आदि कवियों की रचनाओं को आवर्जना बतलाने के कारण अवश्य ही मेरी उक्ति पर मातृभाषा के प्रेमी पाठकगण उसे पक्षपातपूर्ण बतलायेंगे। इस दोषारोपण के लिए मैं पहले से ही तैयार हूँ। पर पाठकों को ज़रा धैर्य रखना चाहिये। मैं यथाशक्ति उनकी शङ्काओं का समाधान करने की चेष्टा करूँगा।

संसार में आज तक जितने श्रेष्ठ कवि पैदा हुए हैं, उनकी आत्माओं के भीतर बहुधा उनके अनजान में उनके जीवन के प्रारम्भ से ही एक निबिड़ साधना चला करती है। उस आन्तरिक तथा सहज साधना के द्वारा कवि की समस्त चित्तवृत्तियाँ एकत्रित होकर एक ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेती हैं जिससे मात्रास्पर्शादि गुणों पर कवि का प्रभाव रहता है, उनका कवि पर नहीं। बहुधा कवि के साथ ऋषि की तुलना की जाती है। वास्तव में दोनों का लक्ष्य एक है, यद्यपि मार्ग उलटे हैं। यह विचारना भूल है कि साधकगण रसास्वादन नहीं कर सकते। सच तो यह है कि रस का वास्तविक आस्वादन तभी किया जा सकता है, जब नैसर्गिक उपाधियों का दास न रहा जाय। इसमें सन्देह नहीं कि मेरी उक्ति बिलकुल विरोधाभासात्मक मालूम देती है। पर यही वास्तविक तथ्य है।

नैसर्गिक बन्धनों का दास बनकर और विषय में लिप्त रहकर रस-भोग करना वैसा ही है जैसे कोई मक्खी दूध के बर्तन में गिरकर दूध का रस ग्रहण करती हो। सभी जानते हैं कि नारद मुनि कितने रसिक थे। महर्षि वाल्मीकि तथा वेदव्यास में रस-शोषण करने की कितनी शक्ति वर्त्तमान थी, यह बात उनके अनन्त तथा अक्षय रस के सागर चिर-अमर महाकाव्य रामायण तथा महाभारत द्वारा जानी जा सकती है। इस अनन्त काव्यद्वय से भारत के परवर्ती समस्त कवियों को प्रेरणा प्राप्त हुई है। महाप्रभु चैतन्य के समान रसज्ञ कौन था! वह विरागी होने पर भी रस के अनन्त सागर में डूबे हुए थे, इस बात को अस्वीकार करने की सामर्थ्य किसमें है! हमारे भोलानाथ अनादि काल से वैराग्य-साधन करने पर भी कितने रस-पिपासु हैं, इस बात को वे ही समझ सकते हैं जो उनके युग-युगान्तर व्यापी भीषण-ताण्डव-नृत्य का रहस्य समझ गये हैं। अरसिक कभी नृत्य नहीं कर सकता! तब जो देवता अनादि काल से इस भयावह नृत्य में मत्त है, उसकी

रस-पिपासा भी कितनी भीषण है इसका अनुमान सहज ही में किया जा सकता है। फिर चाहे वह रस मृत्यु रस ही क्यों न हो। क्या मृत्यु के भीतर रस नहीं है? इस जीवन्त संसार का रस नित्य प्रतिपल मृत्यु की ओर प्रवाहित होता जाता है, यह दृश्य श्रेष्ठ ऋषि तथा कवि गण सर्वदा देखते आये हैं। मृत्यु के भीतर जितना रस संचित है उसका लक्षांश भी क्या इस जीवित संसार में वर्त्तमान है? गङ्गासागर के जल की तुलना क्या गंगोत्री के जल से की जा सकती है?

रवीन्द्रनाथ को लोग बहुधा महर्षि कहा करते हैं, पाश्चात्य देश-वासियों ने उनके रसमय हृदय की तुलना श्रेष्ठ मानव-प्रेमिक ईसा-मसीह से की है। लोगों को आश्चर्य होता है कि जो कवि युवावस्था में उन्मत्त प्रेम की जबर्दस्त कवितायें लिख गया है, उसके भीतर तपस्वी की आत्मा की छाया पाई जाती है। पर इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। ऐसा होना सम्पूर्ण स्वाभाविक है। कालिदास के हृदय में तपस्वी का भाव वर्त्तमान नहीं था, यह कौन कह सकता है? उनकी कविताओं में लालसामय प्रेम का नग्न चित्र अंकित होने पर भी उनके भीतर उनकी आत्मा के निर्लिप्त भाव की छाया इतने स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हुई है कि उसमें भूल हो ही नहीं सकती। गेटे के सुप्रसिद्ध नाटक 'फास्ट' (Faust) को पढ़ते ही मालूम हो जाता है कि इस प्रमत्त प्रणय का रसपान करने वाले कवि की साधना सफलता की चरम परिणति को पहुँच चुकी है।

कवि के अन्तर की यह सहज साधना इतनी सत्य है कि टाल्सटाय को जब इसके अस्तित्व का अनुभव हुआ तो उनकी मानसिक दशा बड़ी विचित्र हो गई और वह आत्मघात करने पर भी उतारू हो गये थे। कवि की आत्मा के भीतर जब यह साधना ज़ारी रहती है तो उसके साथ कवि की चित्तवृत्तियों का ऐसा संघर्षण चलता है कि

जिसका वर्णन स्वयं कवि नहीं कर सकता। यह नियम प्रत्येक श्रेष्ठ कवि के लिए लागू है। जब तक साधना समाप्त नहीं हो जाती तब तक द्वन्द्व चलता ही रहता है। मैक्सिम गार्की की मानसिक दशा भी एक बार बुरी हो गई थी और उसने स्वयं अपनी आत्मघात करने की प्रवृत्ति स्वीकार की है। इस संघर्षण के समय कवि जो रचना रचता है उसमें द्वन्द्व-भाव का समावेश रहता है, जिससे रचना का सौंदर्य और भी बढ़ जाता है। कालिदास के मेघदूत तथा रवीन्द्रनाथ की प्रेम सम्बंधी कविताओं में उन्मत्त वासना की चंचल तरंग बहने पर भी इतनी सहृदयता भरी हुई है कि उसकी अवज्ञा किसी प्रकार नहीं की जा सकती। उक्त रचनाओं में कवि की वास्तविक रसपान करने की इतनी उत्कट प्रवृत्ति का परिचय मिलता है कि प्रत्येक पाठक अपने हृदय के अन्तस्थल में उसका अनुभव करता है। इन रचनाओं में कवि के हृदय में वर्त्तमान बालकोचित सरलता, निष्पाप प्रवृत्ति तथा सहृद-यता का भाव और युवकोचित भोगेच्छा तथा रस-पिपासा का भाव एक दूसरे के साथ इस ढंग से मिल गये हैं कि उनमें एक को दूसरे से विच्छिन्न करना असम्भव है। इसमें सन्देह नहीं कि इन रचनाओं में रस-भोग का भाव ही मूल भाव है। पर इस भाव के अतिरिक्त एक और भाव जो उसकी आड़ में छिपा हुआ झाँका करता है वह अव-हेलना के योग्य नहीं है। इस अतिरिक्त भाव के द्वारा ही कवि की आत्मा में चलने वाली साधना तथा उसके हृदय के निर्लिप्त भाव का पता चलता है।

कालिदास का मेघदूत और रवीन्द्रनाथ की प्रेम सम्बन्धी बहुत सी कवितायें उस समय की लिखी हुई हैं जब इन दोनों कवियों की आत्मा के भीतर साधना चल रही थी और समाप्त नहीं हो चुकी थी। जब इन कवियों की साधना समाप्त हो चुकी, तो उनकी रचनाओं ने भी दूसरा रूप धारण कर लिया। 'कुमारसम्भव' कालिदास ने तब रचा

जब साधना समाप्त होने को थी। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' साधना के पूर्णतया समाप्त होने पर रचा गया था। इसी तरह रवीन्द्रनाथ ने भी जब साधना समाप्त होने पर प्रेम-सम्बन्धी कवितायें रचीं तो उनमें उन्होंने नारी को उसके सभी रूपों में चित्रित किया है। इस स्थिति में भी उन्होंने नारी के रमणीय रूप की अवज्ञा नहीं की है, पर उनका ध्यान प्रधानतया उसके मङ्गलमय रूप पर आकृष्ट हुआ है।

देव और विहारी की कविताओं को पढ़ने पर यह बात खटकती है कि इन कवियों का आनन्द-मय रस पान करने का कोई अधिकार नहीं है। पढ़ने वाले को ऐसा मालूम देता है कि ये कवि रस में इतनी बुरी तरह डूब गये हैं कि न तो उसे पान ही कर सकते हैं और न उसमें से बाहर ही निकल सकते हैं। 'मेघदूत' को पढ़ने पर यह मालूम हो जाता है कि इसका रचयिता शकुन्तला-नाटक का प्रणयन कर सकता है; रवीन्द्रनाथ की प्रेम सम्बन्धी कविताओं को पढ़ने पर यह प्रकट हो जाता है कि यह कवि मानव-जीवन का अद्भुत रहस्य उद्घाटित करके आत्मा-सम्बन्धी परम तत्व मनुष्य को दृष्टि-गोचर करा सकता है और चिदानन्दमय परम पुरुष के रसमय रूप को अपनी कविताओं में प्रतिबिम्बित कर सकता है। पर देव और बिहारी की रचनाओं को पढ़कर यह नहीं जंचता कि ये कवि महान् तत्व की कोई भी बात प्रकट कर सकते हैं।

साधक कवि सौंदर्य के नये-नये लोकों में विचरण करता है और रस के विभिन्न सागरों में गोते लगाता है। यह बात बिहारी आदि कवियों में नहीं पाई जाती। वे अपने प्रेम-पङ्क के संकीर्ण घेरे के भीतर बन्द रह कर उस पंक को मथित करने में ही व्यस्त रहते हैं। प्राकृतिक रस-वैचित्र्य के साथ कवि के सौंदर्य-पिपासु मानस का जो घनिष्ठ संबन्ध रहता है, उसका अनुभव ऐसे कवि नहीं कर सकते। यही कारण है कि उन्मत्त प्रेम का नग्न चित्र खींचने पर भी "मेघदूत" आत्मा को

नित्य नवीन आनन्द प्रदान करने वाली शीतल, मन्द तथा सुगन्धित युक्त समीर बहाया करता है और जयदेव का गीतगोविन्द, बिहारी की सतसई आदि ग्रंथ राधा-कृष्ण की दुहाई देने पर भी प्रतिक्षण प्रेम-पंक से निर्गत तीव्र दुर्गन्धयुक्त निःश्वास उद्गीरित किया करते हैं।

३

जयदेव का "गीतगोविन्द" भक्तिरस प्रधान काव्य के नाम से विख्यात है। बंगाल में यह काव्य बिना किसी द्विधा के विधवा स्त्रियों के हाथ में दे दिया जाता है। जब मेरी अवस्था तेरह वर्ष की थी तब यह काव्य मुझे पहले पहल पढ़ने को मिला। किसी ने मुझे इसे पढ़ने से निषेध नहीं किया। जब इसके कुछ पृष्ठ मैंने पढ़ लिये तो मेरी अवस्था छोटी होने पर भी, काव्य का मूल उद्देश्य मेरे सामने इतने स्पष्ट रूप से झलकने लगा कि किसी अन्य व्यक्ति के सामने उसे पढ़ने में मुझे अत्यन्त लज्जा मालूम देने लगी। फिर भी मैंने किसी प्रकार उसे पूरा पढ़ ही लिया। बड़े बड़े 'साहित्य मार्तण्डों' को मैंने इस ग्रंथ की प्रशंसा करते हुए सुना था, इसलिये प्रकाश्य रूप से इसकी निन्दा मैं किसी के सामने नहीं कर सकता था। और तो क्या, मैं जबर्दस्ती मन को समझाने लगा कि कवियों की तारीफ़ ललित शब्द-रचना करके वासना का विष उद्गीर्ण करने में ही है। इसके अतिरिक्त Poetic Licence की बात भी मैं बहुत बार सुन चुका था। एक साल बाद मुझे चंडीदास तथा विद्यापति की पदावलियों को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन पदावलियों में अपूर्व आध्यात्मिक भाव पाकर मैं स्तंभित हो गया। सब से अधिक आश्चर्य इस बात पर हुआ कि जयदेव का 'गीतगोविन्द' और ये पदावलियाँ, दोनों भक्ति-रस-पूर्ण रचनायें बतलाई जाती हैं। मैंने इन दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर पाया। मेरी क्षुद्र बुद्धि में विद्यापति और चंडीदास की रचनायें

भाव-प्रधान जँची और 'गीतगोविंद' में मैंने कामी का प्रलाप पाया। पीछे मुझे बंगाल के सुप्रसिद्ध कवि भारतचन्द्र का 'अन्नदा-मङ्गल' और उनके शिष्यों की रचनायें भी पढ़ने को मिलीं। अन्नदामङ्गल' की एक ज़माने में इतनी धाक थी कि माइकेल के 'मेघनाद वध' के साथ उसे स्थान मिलता था। इस काव्य में अणुमात्र भाव तथा बिन्दुमात्र रस न पाने पर इसकी गन्दगी देख कर मैं कल्पनातीत निराश हो गया। मुझे बड़ा आश्चर्य होता था कि क्यों साहित्य महारथी इन शब्द-जाल-मय, रसहीन विषैली रचनाओं की इतनी प्रशंसा किया करते हैं। बंगला साहित्य-संसार में एक भी साहित्यालोचक को इस भीषण साहित्यिक व्यभिचार की निन्दा करते हुए मैंने नहीं देखा। मैं हैरान था। एक दिन मैं एक ग्रंथ विशेष की खोज में कलकत्ते की इम्पीरियल लाइब्रेरी में जा पहुँचा। वहाँ पहुँचते ही एक आलमारी में बंगाल के प्रसिद्ध साहित्यालोचक स्वर्गीय दीनेशचन्द्र सेन लिखित Bangali Language and Litereture शीर्षक ग्रंथ पर मेरी दृष्टि पड़ी। उसे उठाकर मैंने उसे खोला और इधर उधर पृष्ट उलट कर देखने लगा। अचानक एक स्थान पर निम्न- लिखित पक्तियां पर मेरी दृष्टि पड़ी जो उन्होंने भारतचन्द्र तथा उसके समसामयिक कवियों के सम्बन्ध में लिखी थीं—

The poets had betaken themselves to the painter's art. They did not aim at inspiring life; they wanted to give finish to the form. They busied themselves with colouring till some of the pictures they drew became blurred by their very efforts to embellish them. For it was not the natural that engaged their poetic power, but the artificial and exaggerated which pandered to

the vitiated taste of mere scholars. The good sense, the sound principles and the domestic instincts that aimed at purity were lost. There was a violent return to the senses. Sensualism of the grossest kind, unrestrained and vulgar sensualism, redeemend only by fine literary touches and emellished by choice metaphors pervades a considerable portion of the literature of this age. The poets in their strenuos attempts to depict vulgar scenes cared only to produce effects by their rhythmical pomps. Poetry sank to the level of mere painter's art, as I have already said, and to that of merely decorative type.
—Bengali Language and Literature, by D. C. Sen
Calcutta Ed. 1911, p p 636-37.

स्थानाभाव के कारण यहाँ पर हम इन वाक्यों का अनुवाद नहीं दे सकते। अँगरेज़ी न समझने वाले पाठकों को केवल यह जतला देना काफी होगा कि लेखक ने भारतचन्द्र आदि कवियों की कविता को शब्द-जाल से पूर्ण कौशलमयी रचना बतलाया है और यह भी लिखा है कि उनमें आत्मा को उच्च भाव से प्रणोदित करने वाले उच्च तत्व नहीं पाये जाते।

'वङ्गभाषा ओ साहित्य' शीर्षक ग्रंन्थ के एक स्थान पर दिनेश बाबू ने लिखा है कि जब बङ्गाल के कवियों की रचनाओं में देवी-देवता पाप के आवरण नाम पर कविगण व्यभिचार मूलक कवितायें लिखने लगे थे तब पौत्तलिकता के विरुद्ध युद्ध घोषित करने के लिए राममोहन राय जैसे महापुरुष के जन्म का समय हो गया था, इसमें

सन्देह नहीं। यहाँ पर यह जतला देना उचित होगा कि दिनेश बाबू कट्टर हिन्दू थे और यदि उक्त कवियों की रचनाओं में आध्यात्मिक व्याख्या करने का कुछ भी सामान मौजूद होता तो वे मेरी राय में सबसे पहले ऐसा करते। पर उनमें देवी-देवता की प्रेम-चर्चा के नाम पर कोरा काम-प्रलाप देखने पर उन्हें ये सब बातें लिखनी पड़ीं।

हिन्दी-साहित्य के दुर्भाग्य से उसमें भी ऐसे कवि उत्पन्न हो गये, जिन्होंने अलंकार-शास्त्र का पचड़ा लेकर भाव तथा रस-शून्य कविता रचने के लिये कमर कस ली। जहाँ तुलसीदास और सूरदास की भावमयी रचनायें अलंकार-शास्त्र की सम्पूर्ण अवज्ञा करके नये नये रस, नये नये आदर्श तथा नये-नये भाव मानव-जाति के दृष्टिगोचर किया करती थीं, वहाँ विहारी, देव, मतिराम आदि कवियों की कलाहीन पर कौशलमयी रचनायें लोकप्रिय हो उठीं। यह युग वास्तव में हिन्दी-साहित्य की अधोगति का युग था। संस्कृत-साहित्य की अधोगति के युग में अमरुक विल्हण, गोवर्द्धनाचार्य, भिक्षाटन आदि कवियों का अविर्भाव हुआ था। इससे अधिक दुःख की बात और क्या हो सकती है कि संस्कृत, बंगला तथा हिन्दी-साहित्य की अधोगति उन्नति के भ्रम से हिन्दी संसार में आलोचना का प्रिय विषय हो उठी। रसमय साहित्य के उन्नत आदर्श को कलुषित करने वाली इन रचनाओं पर हमारे गण्यमान्य साहित्यालोचक गण नाना प्रकार की टीका टिप्पणी करने लगे।

देवी-देवता के नाम पर साहित्य का व्यभिचार करने वाले इन कवियों की रचनाओं को पढ़ कर ही फ्रांस के एक 'धर्म तत्ववेत्ता' को हिन्दू धर्म-तत्व की नई व्याख्या करने का मौका मिला। इस लेखक ने उक्त कविताओं को पढ़ कर हिन्दू धर्म की ऐसी जघन्य व्याख्या की है कि उसे पढ़कर हृदय में आतंक छा जाता है। सभी जानते हैं कि पाश्चात्य देशवासियों में डाक्टर ग्रियर्सन प्राचीन हिन्दी साहित्य के प्रधान पृष्ठपोषक रहे हैं। उन्होंने 'लालचन्द्रिका' की भूमिका में लिखा

है कि विहारी के दोहों में आध्यात्मिक भाव भरा हुआ है। डाक्टर ग्रियर्सन की यह उक्ति बिलकुल बेतुकी है इसमें सन्देह नहीं। हिन्दी-संसार में विहारी के कट्टर भक्तों को भी उनके दोहाओं के सम्बन्ध में किसी प्रकार की आध्यात्मिक व्याख्या करने का साहस नहीं होता। शब्द-रचना में चतुर तथ्य-अलंकार शास्त्र में पारदर्शी इन कवियों ने लोगों को कितने भ्रम में डाल दिया यह देखकर आश्चर्य होता है। साहित्यालोचना की दृष्टि से डाक्टर ग्रियर्सन के प्रति हमारी किञ्चिन्मात्र भी श्रद्धा नहीं है। हम उन्हें केवल एक योग्य भाषातत्ववेत्ता समझते हैं।

समझ में नहीं आता कि विहारी आदि कवियों के नायक-नायिकाओं के घृणित चोचलों से पूर्ण कविताओं को हमारे साहित्यालोचक-गण प्रेम की कविता क्यों कहते हैं। हम पहले ही कह आये हैं कि उक्त कवियों की रचनाओं को हम नीति की दृष्टि से महत्व-हीन नहीं बतलाते। कालिदास का 'मेघदूत', बायरन का 'डान जुआन', रवीन्द्र-नाथ की प्रेम सम्बन्धी अनेक कवितायें 'सुनीतिमूलक' नहीं कही जा सकतीं। पर उनमें रस वैचित्र्यमयी मानवी प्रवृत्तियों के अंतरङ्ग रहस्यों का मृदुमन्द आभास झलकता है, उनमें आत्मा की अतलता की छाया प्रतिबिम्बित हुई पाई जाती है। इस कारण ही वे रचनायें महत्वपूर्ण गिनी जाती हैं।

× × ×

साहित्य के इस नवयुग में जब समस्त संसार में सत्य की खोज चल रही है तो हम लोगों को मिथ्या की आराधना नहीं करनी होगी। हम लोगों को इस युग का महत्व पूर्णतया समझ लेना चाहिये। समस्त संसार में आज मिथ्यापूर्ण साहित्य के प्रति विद्रोह चल रहा है। यह युग कालिदास का युग है, माघ का नहीं; शेक्सपियर का है, मोलियर का नहीं; तुलसीदास का है, विहारी का नहीं; चंडीदास का है, जयदेव का नहीं; टाल्सटाय और रोमाँ रोलाँ का है, ज़ोला और बालज़ाक का

नहीं; गोर्की का है मोपाँसा का नहीं; रवीन्द्रनाथ का है भारतचन्द्र का नहीं; शरच्चन्द्र का है बंकिम का नहीं। इस युग के साहित्योपासकगण समझ गये हैं कि अलंकार शास्त्र का महत्व घोषित करने वाली रचना भी श्रेष्ठ नहीं है और कोरे देशहित अथवा लोकहित की साधारण शिक्षा देने वाली रचना भी महत्वपूर्ण नहीं गिनी जा सकती। वे जान गये हैं कि प्रकृत जीवन का अविकल चित्र खींचकर रचना-चातुर्य दिखलाना भी श्रेष्ठ कलावित् का उद्देश्य नहीं है और ललित शब्द रचना द्वारा कविता के प्रेमियों का मन मोह कर रसहीन काम-कविता लिखना भी साहित्योद्देश्य के प्रतिकूल है। वास्तविक जीवन की विचित्र रसमयी लीला की आदर्शमयी सृष्टि करना ही श्रेष्ठ कवि का उद्देश्य रहता है और मनुष्य की महत्तम शक्तियों को उत्थित करना ही उसका लक्ष्य रहता है।

१९२४

———

शेक्सपीयर का हैमलेट

अठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदी के यूरोपियन साहित्य-समाज में 'हैमलेट' का जैसा उन्मादक प्रभाव विस्तारित हुआ वह साहित्य के इतिहास में अद्वितीय है। शेक्सपीयर के जीवित काल में 'हैमलेट' ने सामान्य प्रशंसा भले ही पायी हो, पर उसके उत्ताल-तरङ्गित कल्लोल-प्रवाह में जो प्रेरणा परवर्ती साहित्यिकों को प्राप्त हुई उसकी कल्पना, उसका अनुमान शेक्सपियर के समसामायिक साहित्यिक स्वप्न में भी नहीं कर सकते थे; शेक्सपीयर अपने युग में अकेला अपने भाव-राज्य के एकान्तवास में विचरण करता था।

पहले-पहल विलायती कवि कालेरिज ने 'हैमलेट' की वास्तविक महत्ता पर प्रकाश डाला। कालेरिज की टिप्पणी पढ़ने पर लोगों को ऐसा मालूम हुआ मानो साहित्य-जगत् में एक नवीन आविष्कार हुआ हो। साहित्यिकों का ध्यान तत्काल इस अनादृत तथापि अमर साहित्यिक रचना पर गया। उसमें उन्होंने अपनी भावुक, आध्यात्मिक वेदना-निपीड़ित आत्मा को सञ्जीवनी प्रदान करनेवाली प्रेरणा प्राप्त की और वे अप्रत्याशित पुलक विह्वल हो उठे। प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति अपनी यातनाओं की तुलना डेनमार्क के भावुक राजकुमार हैमलेट के मार्मिक दुःखों से करके शान्ति प्राप्त करने की चेष्टा करने लगा। सारे यूरोप में 'हैमलेट' की धूम मच गयी। इसके बाद जब ग्येटे ने अपने 'विल-हेल्म माइस्टर' में उसकी विस्तृत आलोचना करके उसके भावों का समुचित विश्लेषण किया तो उससे प्रेरणा प्राप्त करके सहस्रों लेखक अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उसकी आलोचना करने लगे और

करते-करते नहीं थके। प्रत्येक थियेटर में 'हैमलेट' खेला जाने लगा और अपनी-अपनी भावना के अनुसार क्या साहित्यिक, क्या असाहित्यिक सभी उसमें अपूर्व रस, भावालोक का अपूर्व प्रकाश प्राप्त करने लगे। आज 'हैमलेट' की अमरता अविवादास्पद है।

क्यों हैमलेट' पाठकों अथवा थियेटर के दर्शकों के हृदयों में ऐसा उन्माद-हर्ष सञ्चारित करता है? यह बात मालूम करने के लिए उसके आख्यान-भाग तथा बाहरी ढाँचे से परिचित होना आवश्यक है। हैमलेट का पिता डेनमार्क का राजा था। उसकी माता और चाचा के षड्यन्त्र से उसकी अनुपस्थिति में उसके पिता की हत्या हो गयी और पति की मृत्यु के प्रायः एक ही महीने बाद उसकी माता ने अपने देवर के साथ विवाह कर लिया। हैमलेट न्यायतः राज्य का अधिकारी था, पर उसका चाचा स्वयं राजा बन बैठा। कहना नहीं होगा कि इसमें उसकी माताकी रज़ामन्दी थी। हैमलेट ने जब देखा कि उसके प्यारे पिता की मृत्यु पर शोक करना तो दूर रहा, उसकी माता एक महीना बीतते-न बीतते उसके चाचा के साथ वैवाहिक परिणय में आबद्ध होकर खुशियाँ मना रही है तो वह मानव-प्रकृति (विशेषकर स्त्री-प्रकृति) की नीचता देखकर घोर विषादाच्छन्न हो जाता है, पर किसी से कुछ नहीं कहता, और मन मारकर, जी मसोसकर रह जाता है। कहे भी तो किससे कहे! स्वयं माता के आगे सब दुःख प्रकट किये जाते हैं, पर माता द्वारा प्राप्त दुःख किसके आगे व्यक्त किया जा सकता है! हैमलेट और सारी प्रजा को यह सूचित किया गया था कि साँप काटने से उसके पिता की मृत्यु हुई है, पर हैमलेट के मन में इस सम्बन्ध में विशेष सन्देह था। तथापि यह सन्देह वह किसी के आगे व्यक्त करने में असमर्थ था। अपने घनिष्ठतम मित्र से भी अपनी माता के विरुद्ध किसी प्रकार की शङ्का का उल्लेख नहीं किया जा सकता। इन सब कारणों से उसकी आत्मा रुद्ध वेदना के आवेग

से भीतर-ही-भीतर क्षुब्ध हो रही थी। वह अभिजात-वंशीय, विचार-शील उन्नतात्मा राजकुमार पूर्ण युवावस्था में ही अपने को समस्त विश्व में एकाकी, असहाय और सङ्गहीन समझने लगा। वह अपने-आप कहता है—"हाय, मनुस्य का यह स्थूल मांसपिण्ड, (जिसको लेकर ही संसार में पाप-ताप की यह ज्वाला धधका करती है और जिसके कारण नीच स्थार्थ की खींचातानी, छीनाझपटी का चक्र निरन्तर जारी है) पिघलकर ओस-बिन्दु के रूप में परिणत क्यों नहीं हो जाता! (निर्लिप्त तथा सुख-दुःख की चेतना से अतीत क्यों नहीं बन जाता!) अथवा आत्म-हत्या पर सर्वशक्तिमान ने निषेधाज्ञा जारी न की होती!, हाय, संसार के सब कारोबार मुझे तुच्छ और झूठे जान पड़ते हैं।... .."

इसके बाद अचानक उसे एक दिन अपने अनुचरों द्वारा यह सूचना मिलती है कि उसके पिता की प्रेतात्मा कुछ दिनों से महल के इर्द-गिर्द चक्कर लगा रही है। अत्यन्त उत्तेजित और उत्सुक होकर वह स्वयं उस प्रेतात्मा की प्रतीक्षा में आधी रात के समय स्तब्ध खड़ा रहता है। अकस्मात् वह देखता है कि उसके भूतपूर्व प्यारे पिता छायारूप में प्रकट होकर उसकी ओर उंगली से इङ्गित कर रहे हैं। वह उसकी ओर चलने लगता है। अनुचरगण निषेध करते हैं, पर वह एक की नहीं सुनता और प्रेम-विह्वल तथा उत्कण्ठा चंचल होकर उधर ही को चले चलता है जिस ओर छायामूर्ति उसे ले चलती है। दूर किसी एकान्त कोने में आकर उसके पिता की प्रेतात्मा ठहरकर खड़ी हो जाती है और उससे कहती है कि "देखो, मैं तुम्हारा स्वर्गीय पिता हूँ। तुम्हारी माता और चाचा ने मिलकर षड्यंत्र रचकर अत्यन्त जघन्य रूप से मेरी हत्या की है। तुम्हारी माता ने मेरे उपवन-विहार के अवसर पर मेरे प्रमोद-गृह में आकर निद्रितावस्था में मेरे कानों में तरल विष डाल दिया। अब तुम्हारा कर्तव्य है कि अपने पिता की इस बीभत्स हत्या का बदला लो। अपने इस क्रूरकर्मी चाचा की हत्या करो।

जब तक उसकी हत्या न करोगे, मैं (अर्थात् मेरी प्रेतात्मा) नारकीय अग्निज्वाला में प्रतिक्षण जलता रहूँगा ।"

यह चरम सत्य जब हैमलेट के कर्णगोचर हुआ तो वह विभ्रान्त हृदय होकर अत्यन्त व्याकुलता से छटपटाने लगा। इससे उसके सन्देह का बहुत-कुछ निराकरण हो गया, पर अभी वह इस सम्बन्ध में पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं हुआ था। वह अपनी माता और चाचा की प्रत्येक छोटी-से-छोटी हरकत पर भी गौर करने लगा। उसने कृत्रिम पागलपन का ढंग अख्तियार कर लिया ताकि इस तरह उसे यथार्थ तथ्य की जाँच में अधिक सुविधा प्राप्त हो। आफीलिया नाम की एक सरल-हृदया नवयुवती के प्रति वह एक बार आकर्षित हुआ था और उसके प्रति अपना प्रेम भी प्रकट कर चुका था, पर प्रेम का प्राथमिक अनुभव भी होते-न-होते विश्वव्यापी नीचता तथा तुच्छता का कड़वा अनुभव जब उसे हो गया तो आफीलिया के प्रति भी वह एकदम विरक्त हो उठा।

उसकी माता और उसके चाचा निरन्तर इस चेष्टा में थे कि वह स्वस्थ होकर रहे और न अपने मृत पिता का शोच करे और न अपनी वर्तमान स्थिति से आगे बढ़ने की चेष्टा करे। वे नाना उपायों से उसका चित्त बहलाने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने अफीलिया को उसे शान्त करने के उद्देश्य से उसके पास भेजा पर हैमलेट ने उसे अपनी रहस्यमयी बातों द्वारा टाल दिया। तत्पश्चात् राजा और रानी ने कुछ अभिनेता उनके पास भेजे ताकि वे उसकी इच्छानुकूल कोई नाटक खेलकर उसके चित्त का विनोदन करें। हैमलेट इस प्रस्ताव से सहमत हो गया। उसे पिता की प्रेतात्मा के कथन की यथार्थता मालूम करने का एक चरम उपाय सूझ पड़ा। उसने नाटक में ठीक वही दृश्य दिखाना चाहा जैसा प्रेतात्मा ने वर्णित किया था। राजा और अपनी माता को भी नाटक के उस खेल में बुलाकर वह यह जानना चाहता था कि वह दृश्य देखकर उनके भावों में कैसा परिवर्तन होता है। अन्त को जब नाटक दिखलाया

गया तो उनका रहा-सहा सन्देह भी जाता रहा। अब वह इस पशोपेश में पड़ा कि किस प्रकार इस नीच राजा—अपने चाचा की हत्या करे। माता का वह (भले ही वह व्यभिचारिणी हो) जिस कार्य से कष्ट पहुँचे, उसे करने का साहस उसे न होता था। कितनी ही बार वह निश्चय करता था, पर फिर अपनी कोमल प्रकृति के कारण असमञ्जस में पड़ जाता था। कभी वह आत्महत्या करने की सोचता था, कभी माता को समझाता था कि वह इस अनर्थमूलक सम्बन्ध को त्याग दे। एक बार राजा के बदले आफीलिया के पिता की (जो एक खुशामदी दरबारी था) हत्या कर बैठा। पिता के शोक से आफीलिया पागल होकर मर गयी। बहन की दुर्दशा देखकर उसका भाई उसके साथ लड़ मरा। राजा उसे दावत के बहाने से विष देकर मारना चाहता था, पर उसकी माता गलती से उस विष को पी बैठी। फिर दूसरी दुर्घट-नाओं के बाद बड़ी मुश्किल से वह राजा की हत्या करने में समर्थ हुआ। (शारीरिक शक्ति की अक्षमता के कारण नहीं, नैतिक अस-मञ्जस के कारण अपना कर्तव्य समापन्न करने में उसने देर की थी।) अन्त को स्वयं भी मर गया।

शेक्सपीयर का यह नाटक पूर्णतः पाश्चात्य (अर्थात् ग्रीक) भावात्मक है। हम भारतीयों की प्रकृति से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं है। हमारी नैतिक तथा आध्यात्मिक संस्कृति, हमारी साहित्य-धारा इससे बिलकुल विपरीत हैं। पाप-ताप, व्यभिचार तथा प्रतिहिंसा के पीड़न तथा इतने मनुष्यों की हत्या की सम्बन्ध में हमारे किसी नाटक-कार ने कभी कोई नाटक नहीं लिखा। शान्त, स्निग्ध निर्विकार विषयों का वर्णन ही हमारे यहाँ की विशेषता है। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ को शेक्सपीयर से कुछ भी प्रेरणा प्राप्त नहीं हुई है और न उनके हृदय में उनके सम्बन्ध में विशेष उत्सुकता ही पायी जाती है, कालिदास ही उनके गुरु हैं। पर पाश्चात्य साहित्य-रसिकों से पूछिये। उन्मादक प्रेरणा इस नाटक से वे पाते हैं! प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक

तथा विवेचक अरिस्टाटल ने लिखा था कि भीति तथा करुणा के दृश्य दिखाकर ट्रेडेजी आत्मा को विशुद्ध तथा परिष्कृत करती हैं। 'हैमलेट' में 'भीति और करुणा' के भावों की यथेष्टता पायी जाती है, पर इसके अतिरिक्त एक और विशेषता उसमें हम पाते हैं जो अन्यान्य ट्रेजेडियो में कहीं नहीं पायी जाती। उसमें मनुष्य की अनन्त-कालिक प्रतिभा की चिरन्तन दुःखलीला दर्शायी गयी है। मेरी यह उक्ति पाठकों को किंचित अबोधगम्य जान पड़ेगी। मैं यह कहना चाहता हूँ कि 'प्रतिभा'-नाम की जो एक आध्यात्मिक आग रहस्यमय प्राकृतिक विकास द्वारा कुछ विशेष पुरुषों के भीतर अदृश्य रूप से प्रतिच्छण रावण की अनिर्वापिता चिता की तरह सुलगती रहती है, उसके मानव-मन अत्यन्त अनुभूतिशील (Sensitive) तथा वेदनापरायण हो जाता है और प्रतिपल कल्पनालोक के अतीन्द्रिय जगत् में विहरण करने के कारण वास्तविक जगत् के संघर्ष में आकर अत्यन्त वित्रस्त हो जाता है और पग-पग पर अर्जुन की तरह कर्तव्याकर्तव्य के सम्बन्ध में असमञ्जस और द्विविधा के फेर में पड़कर अन्त को आत्म-विनाश करने को प्रवृत्त होता है। हैमलेट के चरित्र में प्रतिभा की ये सब विशेषतायें पूर्णरूप में पायी जाती हैं और कवि ने अत्यन्त सुन्दर रूप में दुःख-संशय-निपीड़ित, खण्डित मर्म का खण्ड-खण्ड हमें दिखाया है। शेक्सपीयर ने इस नाटक में जो अपूर्व सफलता पायी है उसका एक कारण यह भी है कि उसने नाटक का पात्र इस उद्देश्य के अत्यन्त अनुकूल चुना है और उसे अत्यन्त उपयुक्त वाह्य परिस्थिति में लाकर खड़ा किया है ताकि उसको मानसिक प्रवृत्ति का विकास पूर्णरूप से प्रस्फुटित हो सके। प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति में प्रतिभा का अंश किसी न-किसी मात्रा में अवश्य वर्तमान रहता है। इसलिए प्रत्येक पाठक हैमलेट की नैतिक तथा आध्यात्मिक वेदना को अपनी ही वेदना समझता है। इस नाटक की अमरता का मुख्य कारण यही है।

१९३३

मानवधर्मी कवि चण्डीदास

चण्डीदास साथे धोबिनी सहिते
मिश्रितं एकई प्राणे ।

—चण्डीदास

"चण्डीदास और धोबिनी के प्राण एक रूप में मिले हुए हैं।"

राधा-कृष्ण की प्रेमलीला के सम्बन्ध में बङ्गाल के बहुत से वैष्णव कवियों ने सुन्दर, सुललित कोमल-कान्त-पदावलियों की रचना की है। पर इन सब में चण्डीदास की विशिष्टता अत्यन्त स्पष्ट-रूप में प्रकट हो जाती है। चण्डीदास की भाव-धारा के प्रवेश से जो व्यक्ति परिचित हो गया है, समझ लेना चाहिए कि वह समस्त वङ्ग देश के मूलप्राण की गति को जान गया है। महाप्रभु चैतन्य से लेकर रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र तक जितने भी महापुरुष आज तक बङ्गाल में उत्पन्न हुए हैं, सब किसी-न-किसी रूप में चण्डीदास की ही मर्म-गाथा से प्रणोदित हुए हैं। इस प्रेमगत-प्राण महाकवि ने स्वर्गीय प्रेम के अनन्त रस में अपनी सारी आत्मा को पूर्णतया निमज्जित कर दिया था। प्रेम ही उसके जीवन का मूलमन्त्र था, प्रेम ही उसका जप और प्रेम ही उसका तप था; प्रेम ही उसकी साधना थी और प्रेम ही सिद्धि। इस पागल प्रेमिक ने राधा-कृष्ण की जीवन-लीला के वर्णन के बहाने केवल प्रेम-देवता का ही गुणगान गाया है। अपनी पदावली में उसने सर्वत्र 'पिरीति' की ही रट लगायी है—केवल 'पिरीति' 'पिरीति, पिरीति !'

पिरीति पीरीति कि रीति मूरति हृदय लागल से।
पराण छाड़िले पिरीति ना छाड़े पिरीति गड़ल के॥

पिरीति बलिया ए तिन आखर ना जानि आछिल कोथा।
पिरीति कण्टक हियाय फुटिल पराण-पुतलि यथा॥
पिरीति पिरीति पिरीति अनल द्विगुण ज्वलिया गेल।
विषम अनल निवाइल नहे हियाय रहिउ शेल॥

—"प्रीति की मूर्ति न मालूम कैसे मेरे हृदय से आ लगी ! प्राण छूटने पर भी अब यह प्रीति मुझे छोड़ना नहीं चाहती। इस 'प्रीति की रचना किसने की ! न मालूम 'पिरीति' [प्रीति] नाम के तीन अक्षर [सृष्टि के प्रारम्भ में] कहाँ छिपे थे ! प्रीति का कण्टक मेरे हृदय के उस मार्मिक स्थान में स्फुटित हुआ जहाँ मेरी प्राण रूपी पुतली विराज रही थी। प्रीति की आग हृदय में द्विगुण वेग से जल उठी। इसकी विषम ज्वाला किसी तरह बुझती नहीं। हृदय में प्रीति का कांटा अभी तक उसी तरह वर्तमान है।"

प्रीति के रस में चण्डीदास कैसे तन्मय हो गये थे उसका परिचय उनके सैकड़ों पदों से मिलता है। नीचे उदाहरण के बतौर हम एक और पद उद्धृत करते हैं :—

पिरीति नगरे बसति करिब, पिरीते बांधिब घर।
पिरीति देखिया पड़शी करिब, ताबिने सकल पर॥
पिरीति द्वारेर कबाट करिय, पिरीते बांधिब चाल।
पिरीति आस के सदाई थाकिब, पिरीते गोङाब काल।
पिरीति पालङ्के शयन करिब, पिरीति सिथान माथे।
पिरीति बालिसे आलिस तजिब, थाकिब पिरीति साथे॥
पिरीति सरसे सिनान करिब, पिरीति अञ्जन लब।
पिरीति धरम, पिरीति करम, पिरीते पराण दिब॥

—"मैं प्रीति नगर में वास करूँगा, प्रीति की नींव पर ही घर खड़ा करूंगा। पड़ोसी से प्रीति का विचार करके सम्बन्ध स्थापित

करूँगा, क्योंकि प्रीति के बिना सभी पराये हो जाते हैं। प्रीति के द्वारों का ही कपाट लगाऊँगा, और प्रीति की ही छत तैयार करूँगा। प्रीति के पलंग पर प्रीति के तकिये पर सिर रखूँगा। प्रीति के तकिये पर ही आलस्य त्याग करूँगा और प्रीति के साथ ही रहूँगा। प्रीति-सरोवर में स्नान करूँगा और प्रीति का अञ्जन लगाऊँगा। प्रीति ही मेरा धर्म और प्रीति ही मेरा कर्म रहेगा; प्रीति की खातिर मैं अपने प्राणों को दे डालूँगा।"

इस प्रकार चातक की तरह केवल 'प्रीति, प्रीति' रटकर उस पर मर मिटने वाले इस अद्भुत, असाधारण कवि का जीवन-चक्र भी अद्भुत और असाधारण होगा, इसमें आश्चर्य की क्या बात है! एक साधारण बरेठन से चंडीदास का जो आमरण प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो गया था उसके निगूढ़ रहस्य का मर्म न समझने के कारण समाज के निष्ठुर पेषण-यन्त्र के नीचे उन्हें किस प्रकार निपीड़ित होना पड़ा होगा, इसका अनुमान सहज में किया जा सकता है। पर अपनी धुन के पक्के इस महापुरुष ने अन्त तक उस प्रेम को अत्यन्त श्रद्धा और आत्मविश्वास पूर्वक निबाहा। आज हम उसी रसरहस्यमय प्रेम की कहानी पाठकों को सुनाना चाहते हैं।

चंडीदास का जन्म किस समय और कहाँ हुआ था इस सम्बन्ध में अभी तक लोगों में मतभेद पाया जाता है, तथापि अधिकांश साहित्य-ऐतिहासिकों का यह मत है कि उनका जन्म चौदहवीं शताब्दी के अन्त अथवा पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में वीरभूम जिले के अन्तर्गत नान्नूर नामक गाँव में हुआ था। यह अनुमान किया जाता है कि चंडीदास के पिता की आर्थिक अवस्था अत्यन्त साधारण थी और वह ग्राम्य देवी 'बाशुली' के पुजारी थे। बचपन में ही चंडीदास माता-पिता से रहित होकर अनाथावस्था को प्राप्त हो गये थे। पैतृक उत्तराधिकारी के रूप में उन्हें बाशुली के मन्दिर का पुजारी-पद प्राप्त हुआ।

वह आन्तरिक भक्ति और एकान्त निष्ठा से पूर्वोक्त देवी की आराधना में अपना जीवन व्यतीत करने लगे। मन्दिर के सारे प्रबन्ध का भार उन्हीं के ऊपर था। वह अपने हाथ से देवी के लिए भोगादि पकाकर दर्शनार्थियों को प्रसाद बाँटा करते और अत्यन्त प्रेमपूर्वक उन लोगों को ज्ञान और भक्ति की बातें सुनाया करते। इस बात के कई प्रमाण मिलते हैं कि चंडीदास देखने में अत्यन्त सुन्दर थे। तिस पर उनके हृदय की भावुकता जब उनकी आँखों में स्वप्नवत् विभासित होती तो दर्शकगण मन्त्रमुग्ध होकर उनके सामने खड़े रहते और देवी दर्शन की लालसा भूलकर उन्हीं के दर्शन में अपने को कृतार्थ समझते। विशेष करके नवयुवती स्त्रियाँ उनके प्रति सहज में आकृष्ट होती थीं। पर चंडीदास के मन में कभी किसी युवती के प्रति कुदृष्टि डालने का विचार ही उत्पन्न नहीं हुआ। वह अपने ही भीतरी रस में तन्मय रहते थे। परन्तु उनके मन की यह स्थिरता अधिक समय तक स्थायी न रही। मनुष्य के मन के सम्बन्ध में जो लोग कोई निश्चित मत प्रकट करने का दुस्साहस करते हैं वे घोर मूर्ख हैं। इस चिर-रहस्यमय मन के भीतर न मालूम कितने युगों के संस्कार, जो बहुत दिनों तक सुप्तावस्था में अचेत-से पड़े रहते हैं, कब किस कारण से उत्तेजित प्रलयंकर तूफान मचा बैठते हैं, इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। वही शान्त, धीर चंडीदास, जो सैकड़ों कुलवती, गुणवती, रूपवती स्त्री-भक्तों की बंकिम दृष्टि के प्रति अत्यन्त अवज्ञा का भाव दिखाते थे, कौन जानता था कि कुछ ही समय के बाद एक साधारण बरेठन—धोबी की लड़की—उन्हें प्रेमाभिभूत कर देगी!

इस बरेठन का नाम रामी था। चंडीदास द्वारा रचित अनेक पदों में उसका उल्लेख पाया जाता है। चंडीदास ने उसे पहले-पहल कहाँ देखा, इस सम्बन्ध में अन्वेषकगण किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँचे हैं। फिर भी बहुतों का यह मत है कि चंडीदास अपने गाँव

से दो-एक कोस दूर तेहाई नामक गाँव में एक नदी के किनारे मछली मारने अथवा प्राकृतिक दृश्य का उपभोग करने जाया करते थे। दोनों प्रथम दिन के दर्शन से ही एक-दूसरे को देखकर प्रबल वेग से परस्पर आकर्षित हो गये थे। तब से चण्डीदास नित्य उसी घाट के पास बैठकर मछली मारने के बहाने से रामी के दर्शन किया करते। बहुत दिनों तक दोनों में किसी प्रकार का मौखिक वार्तालाप नहीं हुआ, केवल आँखों की नीरव भाषा में ही बातें होती रहीं। बाद को धीरे-धीरे दोनों में हेलमेल बढ़ता गया और घाट से कुछ दूर एक निर्जन स्थान में दोनों पारस्परिक सुख-दुःख की बातें किया करते। बङ्गाल के प्रायः सभी साहित्यान्वेषकों का मत है कि रामी के साथ चण्डीदास का यह प्रेम अत्यन्त पवित्र और कामगन्धहीन था। इस सम्बन्ध में हम अपना निश्चित मत कुछ भी नहीं दे सकते। पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि रामी से उनका शारीरिक सम्बन्ध रहा हो चाहे न रहा हो, इस प्रेम में हृदय की विशुद्ध रसमयी भावुकता की ही प्रबलता अधिक थी जिसके प्रमाणस्वरूप हम चंडीदास के कुछ पदों को आगे चलकर उद्धृत करेंगे। कुछ भी हो, रामी से उनकी घनिष्ठता दिन-दिन बढ़ती चली गयी, और अन्त को यहां तक नौबत आ गयी कि एक पल एक-दूसरे को देखे बिना दोनों के प्राण तड़पने लगते। इधर बाशुली मन्दिर के प्रबन्ध का भार चंडीदास के ऊपर था, इसलिए वह रामी से सब समय मिल नहीं सकते थे। अन्त को रामी ने कपड़े धोने का काम छोड़ दिया और नान्नूर ग्राम में आकर उसने कौशल-पूर्वक बाशुली-मन्दिर के अधिकारियों को किसी तरह राजी करके मन्दिर-प्राङ्गण में बुहारी देने का काम प्राप्त कर लिया। इस प्रकार वह सब समय चंडीदास की आँखों के सामने रहने पाती थी। उसे देख-देखकर चंडीदास अपूर्व प्रेम से उन्मत्त हो-होकर नित्य नये-नये पद बनाकर गाते थे। ये पद यद्यपि राधा-कृष्ण सम्बन्धी होते थे, पर उनमें रामी

के प्रति अन्योक्ति भरी होती थी। प्रत्यक्ष में रामी को सम्बोधित करके भी चंडीदास ने बहुत से पद रचे हैं; पर यह निश्चित है कि मन्दिर में वे पद नहीं रचे गये—मन्दिर से विताड़ित और जाति से बहिष्कृत होने के बाद ही उन्होंने उन पदों की रचना की थी।

मन्दिर के अधिकारियों ने जब देखा कि एक अस्पृश्य-जातीय युवती से देवी के पुजारी का 'अनुचित' प्रेम-सम्बन्ध चल रहा है तो उन्होंने चंडीदास का घोर अपमान करके उन्हें निकाल दिया। समाज-पतियों ने उन्हें अत्यंत तिरस्कृत और लाञ्छित करना प्रारम्भ किया, यहाँ तक कि षड्यंत्र रचकर उनके सगे भाई से उन्हें छुड़ा दिया। उनके भाई ने उनसे कहा कि रजकिनी का साथ छोड़ देने से तुम्हें फिर से समाज में ग्रहण करने की चेष्टा मैं कर सकता हूँ। पर चंडीदास तो दीवाने हो गये थे, मधुर प्रेम के अमृत-रस में विभोर थे, उन्हें दीन दुनिया से क्या काम था! समाज से बहिष्कृत होने के बाद उन्होंने खुल्लमखुल्ला रामी से अपना सम्बंध स्थापित कर लिया। चंडीदास को समाज से बहिष्कृत करने की जो आवश्यकता समझी गयी, मंदिर से उन्हें निकालने की जो नौबत आ पहुँची, उससे इतना तो स्पष्ट है कि रामी से उनका प्रेम कोरे मौखिक आलाप से आगे बढ़ गया था। पर किस हद तक बढ़ा था, इस सम्बंध में ठीक-ठीक कुछ नहीं कहा जा सकता। हाँ; चंडीदास के कुछ पदों से इस बात का पता चलता है कि उनका प्रेम कामगन्धहीन था। पर यह भी सम्भव है कि एक ही कवि एक ही प्रेमिका के सम्बंध में विभिन्न समयों में दो विभिन्न भावों का अनुभव कर सकता है। उदाहरण के लिये रवीन्द्रनाथ ने अपनी 'रात्रे ओ प्रभाते' शीर्षक कविता में यही भाव झलकाया है। उसमें उन्होंने दिखाया है कि रात के समय अपनी प्रेमिका के प्रति उनके मन में कैसा रस-विलासमय भाव

वर्तमान था और प्रभात होते ही वह उनके आगे अत्यन्त पवित्र देवी के रूप में विराजमान हुई, जिसके सम्बन्ध में काम की कल्पना ही नहीं की जा सकती—

> रातें प्रेयसीर रूप धरि' तुमि एसेछो प्राणेश्वरी !
> प्राते कखन देवीर वेशे तुमि समुखे उदिले हेसे' !
> आमि सम्भ्रम-भरे रयेछि दांड़ाये दूरे अवनत शिरे;
> आजि निर्मल बाय शान्त ऊषाय निर्जन नदी तीरे !

—"हे प्राणेश्वरी ! रात्रि के समय तुम प्रेयसी का रूप धारण करके मेरे पास उपस्थित हुई थीं, पर प्रभात के समय, जब कि निर्मल बयार चल रही है, निर्जन नदी से तट पर से ऊषा का स्निग्धशान्त रूप देखा जा रहा है, तुम मेरे सामने मन्द-मधुर मुसकान से देवी के रूप में आकर प्रकट हुई हो ! मैं तुम्हें देखकर श्रद्धा और सम्भ्रम से दूर नत-मस्तक होकर खड़ा हूँ !"

प्रेम का भाव प्रबल होने से प्रेमिक अपनी प्रेमिका को विश्वरूपमय देखता है। जाति से बहिष्कृत होने के बाद चण्डीदास रामी को उसी रूप में देखने लगे थे। वह रामी को सम्बोधित करते हुए लिखते हैं—

> तुमि रजकिनी आमार रमणी तुम हओ पितृ-मातृ ।
> त्रिसन्ध्या-याजन तोमारई भजन तुम वेदमाता गायत्री ॥
> तुमि वाग्वादिनी हरेर घरणी तुमि गो गलार हारा ।
> तुमि स्वर्ग-मर्त्य पाताल-पर्वत तुमि जे नयनेर तारा ॥

—"हे रजकिनी ! तुम मेरी स्त्री हो, और मेरे माता-पिता भी तुम्हीं हो। तीनों समय सन्ध्या करते हुए मैं केवल तुम्हारा ही भजन करता हूँ, क्योंकि वेदमाता गायत्री तुम्हीं हो। वाग्वादिनी देवी तुम्हीं

हो, तुम्हीं हरकी गृहिणी हो, तुम्हीं मेरे गले का हार हो। स्वर्ग-मर्त्य तुम्हीं हो, पाताल-पर्वत भी तुम्ही हो और मेरी आँखों की तारा भी तुम्हीं हो।"

संसार-साहित्य का जितना कुछ भी अल्प ज्ञान हमें है उससे हम यह कहने का साहस कर सकते हैं कि प्रेमिका की ऐसी परिपूर्ण कल्पना, प्रेम की ऐसी तीव्र अनुभूति ऐसी सरल, स्पष्ट भाषा में अब तक कोई भी कवि नहीं कर पाया है। इस विंश शताब्दी में भी प्रबल सामाजिक तथा धार्मिक क्रान्ति के इस ऐतिहासिक युग में भी—हम देखते हैं कि अस्पृश्य जातीय किसी व्यक्ति से किसी प्रकार का संसर्ग रखने का साहस कितने कम लोगों में है। ऐसी हालत में जब हमें इस बात का परिचय मिलता है कि चौदहवीं शताब्दी के घोरतर कट्टरवाद के युग में एक ग्रामीण ब्राह्मण कवि ने अत्यन्त दर्प के साथ एक अस्पृश्या से अपने प्रेम-सम्बन्ध की स्पष्ट घोषणा करते हुए उस पर गौरव अनुभव किया है तो उसकी प्रतिभा को श्रद्धाञ्जलि अर्पित किये बिना नहीं रहा जाता। प्रतिभा विद्रोहिणी है, वह देशकाल और समाज का कोई बन्धन कभी नहीं मान सकती। बंगठन से सच्चे प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करने में कोई दोष नहीं है, इस परम सत्य का मर्म समझने के लिए हमें विंश शताब्दी के यूरोपियनों के संसर्ग और उनकी शिक्षा की आवश्यकता नहीं है—मध्ययुग का एक 'असंस्कृत' भारतीय कवि भी विशुद्ध आत्मा के निर्मल प्रकाश से आलोकित होकर अपने भावुक हृदय में इस तत्व को हृदयङ्गम करने में समर्थ हुआ है!

इस प्रेमप्राण कवि की लोकनिन्दा का डङ्क इष्टमार्ग से विचलित न कर सका, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। रानी को सम्बोधित करते हुए चण्डीदास ने लिखा है—

कलङ्की बलिया डाके सब लोके ताहाते नाहिक दुख।
तोमार लागिया कलङ्केर हार गलाय परिते सुख॥

—"सब लोग मुझे कलङ्की कहकर पुकारते हैं, पर मैं उनकी इस कटूक्ति से दुःखित नहीं हूँ। तुम्हारे कारण कलङ्क का हार भी गले में धारण करने में सुख का अनुभव होता है।" ईसा के Crown of thorns—काँटों के ताज—की तरह यह कलङ्क का हार महा महिम है!

चण्डीदास की अलौकिक प्रेरणा पाकर स्वयं रामी भी कविता करने लगी थी। वह भी पद रचना करके चण्डीदास के प्रति अपने उद्दाम प्रेम का उद्वलित प्रवाह व्यक्त किया करती थी। उसके रचित अधिकांश पद यद्यपि लुप्त हो गये हैं, तथापि कुछ पद अभी तक मिलते हैं। उसका एक पद इस प्रकार है—

तुमि दिवाभागे निशा अनुरागे भ्रमो सदा वने वने।
ताहे तव मुख ना देखिया दुःख पाई बहु क्षणे क्षणे॥

त्रुटि सम काल मानि सुजञ्जाल युगतुल्य हय ज्ञान।
तोमार विरहे मन स्थिर नहे व्याकुलित हय प्राण॥

कुटिल कुन्तल कत सुनिर्मल श्रीमुखमण्डल-शोभा।
हेरि हय मने ए दुई नयने निमेष दियाछे केवा॥

चाहे सर्वक्षण हय दरशन निवारण सेइ करे।
ओहे प्राणाधिक कि कब अधिक दोष दिये विधातारे॥

तुमि जे आमार आमि हे तोमार सुहृत् के आछे आर।
खेदे रामी कय चण्डीदास बिना जगत् देखि आंधार॥

—"तुम दिन-रात वन-वन में फिरते रहते हो। इस कारण तुम्हारा मुख न देख सकने के कारण क्षण-क्षण में मैं बहुत दुःख पाती हूँ। क्षणमात्र युग के समान जान पड़ता है। तुम्हारे विरह से मेरा मन स्थिर नहीं है और प्राण व्याकुल हैं। तुम्हारे घुंघराले बाल और निर्मल मुखमण्डल की शोभा देखकर इस बात के लिए दुःख होता है

कि इन आँखों में किसने पलकों का निर्माण कर दिया! सब समय निर्निमेष नयन से तुम्हारा मुख देखते रहने की इच्छा होती है, पर आँखों के पलक मारने के कारण बीच-बीच में दर्शन से वञ्चित होना पड़ता है। हे प्राणाधिक प्रियतम! मैं अधिक क्या कहूँ! विधाता को दोष देकर क्या करूँ! तुम मेरे हो, मैं तुम्हारी हूँ, और तीसरा कोई हम दोनों का सुहृदय नहीं है, बस। रामी दुःखित होकर कहती है कि चण्डीदास के बिना मैं सारा संसार अन्धकारमय देखती हूँ।"

कहा जाता है कि चण्डीदास और रामी दोनों 'सहज' मतावलम्बी होकर परकीया धर्म में दीक्षित हो गये थे। रामी अपने को राधा मानकर चण्डीदास को कृष्ण के रूप में भजती थी और चण्डीदास अपने को कृष्ण मानकर रामी से राधा के रूप में प्रेम का सम्बन्ध रखते थे। चण्डीदास 'सहज' मतावलम्बी थे, इस बात के बहुत से प्रमाण मिलते हैं। यह मत बौद्धों के प्रभाव से बङ्गाल में किसी समय बड़े जोरों से फैल गया था और इस समय भी बङ्गाल के वैष्णवों का 'सहजिया' सम्प्रदाय बहुत कुछ अंश में उसी मत को मानता चला आता है। इस 'सहज' मत ने धीरे-धीरे विकृत रूप धारण करके बङ्गाल में व्यभिचार की उद्दाम तरङ्ग प्रवाहित कर दी थी।

महात्मा बुद्ध के कठिन नीति-मूलक धर्म की शुष्कता से जब बौद्ध-सम्प्रदाय उकता गया तो उसमें धीरे-धीरे अत्यधिक नीति निष्ठा की प्रतिक्रिया-स्वरूप नाना रसमय तत्वों का विचार प्रवेश करने लगा। हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान का जो आन्दोलन चल रहा था उसके संसर्ग में आकर वे लोग देवी-देवताओं को भी मानने लगे! बौद्ध धर्म की विभिन्न शाखायें प्रस्फुटित होती जाती थीं। इन्हीं शाखाओं में से एक सहजिया-सम्प्रदाय भी था। चण्डीदास जिस बाशुली देवी के मन्दिर के पुजारी थे वह सहजिया-सम्प्रदाय की देवी नित्या षोड़शी की सोलह सह-चरियों में अन्यतम मानी जाती थी। यह बाशुली मङ्गल चण्डी के नाम से

भी पुकारी जाती थी। आज दिन चण्डी की पूजा बङ्गाल में तथा भारत के अन्यान्य प्रदेशों में बड़े समारोह से होती है, वह मूलतः बौद्धों की ही देवी थी। राजा धर्मपाल के समय बौद्धों में 'महासुखवाद' नामक एक मत प्रवर्तित हुआ था। सहजिया-पंथी इसी मत को मानते थे। उनका विश्वास था कि आनन्द-प्राप्ति ही निर्वाण का उद्देश्य है, इसलिए शारीरिक सुख-साधन ही निर्वाण-मार्ग है! आठवीं शताब्दी में लुइपाद ने इस धर्म का प्रचार किया था। उसका मत था कि स्त्री सम्भोग से जो सुख प्राप्त होता है वही सब सुखों में श्रेष्ठ है, अतएव जात पात का कोई खयाल न करके स्त्रियों के साथ यथेच्छ विहरण करना चाहिये। बादको हिन्दू-धर्म में जिस तान्त्रिक मत की प्रतिष्ठा हुई उसे इसी सहजिया धर्म से प्रेरणा मिली थी। इस 'सहज'-मत के प्रचार से बौद्ध भिक्षु जिस घोर अनाचार के घृणित पङ्क में निमज्जित हो गये थे, उसका वर्णन करने में हम अपने को असमर्थ समझते हैं।

पर चण्डीदास ने इस देहात्मवादी, 'आनन्दानुगामी' मत को अपनी अन्तर्प्रतिभा की प्रेरणा से अपने निजी सांचे में ढालकर उसे एक नया ही रूप दे दिया था, जो आत्मोन्मादी और पवित्र था! बाद में महाप्रभु चैतन्य को भी चण्डीदास के इस हृदयहारी अभिनव प्रेम-मार्ग से प्रेरणा मिली थी।

चण्डीदास ने लिखा है कि बाशुली के आदेश से ही उन्होंने परकीयाधर्म का आश्रय लेकर रजकिनी रामी के साथ प्रीति का सम्बन्ध स्थापित किया; अर्थात् रामी को राधा और अपने को कृष्ण मानकर वह प्रेम की अनन्त तरङ्ग में भासमान होने लगे—

> रति परकीया जाहारे कहिया सेइ से आरोप सार।
>
> भजन तोमारि रजक झियारि रामिणी नाम जाहार॥

—"परकीया रति का आश्रय ग्रहण करके तुम्हें रामिणी नाम की बरेठन का भजन करना होगा।"

यह पहले ही कहा जा चुका है रामी (या रामिणी) के प्रति चण्डीदास का प्रेम सम्बन्ध देहगत था या नहीं, यह अनिश्चित है 'सहज'-मतावलम्बी देहात्मवादी थे, और चण्डीदास ने स्वीकार किया है कि उन्होंने उसी मत का अनुसरण किया है। इतना तो निश्चित है कि चण्डीदास ने इस इन्द्रिय-सम्बन्धी प्रेम को अत्यन्त उन्नत रूप दे दिया था। पर उसका यथार्थ रूप क्या था, इस प्रश्न की मीमांसा अत्यन्त जटिल है। कहीं-कहीं पर चण्डीदास कहते हैं कि उसमें काम गंध नहीं है—

> एक निवेदन करि पुनः पुनः शुनो रजकिनी रामी।
> युगल चरणशीतल देखिया शरण लइलाम आमि॥
> रजकिनी रूप किशोरी स्वरूप कामगंध नाहि ताय।
> ना देखिले मन करे उचाटन देखिले पराण जुड़ाय॥

"हे रजकिनी रामी! मैं तुम से बार-बार निवेदन करता हूँ कि तुम्हारे चरण-युगल को शीतल समझकर मैंने उनकी शरण पकड़ी है। तुम्हारा रूप किशोरी-स्वरूप है, उसमें कामगन्ध नहीं है, उसे न देखने से प्राण अस्थिर रहते हैं और देखने से शान्ति मिलती है।"

परन्तु इसके विपरीत एक दूसरे पद में वह लिखते हैं:—

> कहिछे रजकिनी रामी शुनो चंडीदास तुमि
> निश्चय मरम कहि जाने।
> बाशुली कहिछे जाहा सत्य करि मानो ताहा
> वस्तु आछे देह वर्तमाने॥
> आमि तो आश्रय हुई विषय तोमारे कई
> रमणकालेते गुरु तुमि।
> आमार स्वभाव मन तोमार रति-ध्यान
> तेई से तोमाय गुरु मानि॥

साधन शृङ्गार रस इहाते हइबे वश—इत्यादि

—'रजकिनी रामी कहती है—चण्डीदास, सुनो, मैं मर्म की बात कहती हूँ। वाशुली का कथन है—शरीर की उपस्थिति में ही वास्तविक सत्य वर्तमान रहता है। मैं आश्रय हूँ और तुम विषय। रमणकाल में तुम्हीं मेरे गुरु हो। मेरा स्वभाव और मन तुम्हारी रति के ध्यान में निमग्न रहेंगे। शृङ्गार-रस ही इस धर्म का साधन रहेगा।" इससे सन्देह होता है कि शरीर-सम्बन्धी शृङ्गार-रस भी इस प्रेम का साधन था। इस रस और राग का रूप कैसा था, इस सम्बन्ध में चण्डीदास लिखते हैं—

रागेर उदय बसति कोथा ? मदन, मादन; शोषण यथा ॥
मदन वइसे वाम नयने। मादन वइसे दक्षिण कोणे ॥
शोषण वाणेते उपाने चाई। मोहन कुचेते धरये भाई ॥
स्तम्भन शृङ्गारे सदाई स्थिति। चंडीदास कहे कसेर रति ॥

—"राग [प्रेम का उदय और वास कहां है ? जहां मदन, मादन और शोषण निवास करते हैं। मदन का निवास बाँयीं आंख में है और मादन का दाहिनी में। शोषण वाण उपान में है और मोहन वाण कुच में अवस्थित है। इस प्रकार स्तम्भन शृंगार में सदा स्थिति रहती है। चण्डीदास कहते हैं कि रस की रीति यही है।" इस उत्कट शृङ्गार-रसात्मक रति को अतीन्द्रिय नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह सम्भव हो सकता है कि इन्द्रिय द्वारा क्रमिक विकास से अतीन्द्रिय का अनुभव चंडीदास का लक्ष्य रहा हो। चंडीदास के अनेक पदों में ऐसे शब्द आये हैं जिनसे इन्द्रिय-सम्बन्धी प्रेम का अनुभव होता है, जैसे—

[१] अधरे अधर मिसाल करिया आसादान करि निबे।
[२] रागेर जनम अङ्ग हइते उठे।
[३] दुहुँ कोड़े दुहुँ कांदे विच्छेद भाविया।

इत्यादि।

—"अधर से अधर मिलाकर उसका आस्वादन कर लेना," "प्रेम का जन्म शरीर से होता है," "दोनों परस्पर आलिङ्गन-पूर्वक विच्छेद की भावना से रो रहे हैं।"

इस प्रकार के पदों से यह प्रकट होता है कि सम्भवतः चण्डीदास के प्रेम में शरीर का सम्बन्ध था तथापि उन्होंने उसी शारीरिक प्रेम के उन्मादिनी भावुकता के रस मे ऐसा उन्नत रूप दे दिया था कि वह दूसरे रूप में कामगन्ध से रहित था। यह बात पाठकों को अवश्य ही पहेली की तरह आत्म-विरोधी मालूम पड़ेगी। पर यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो यह आसानी से समझ में आ सकती है। संसार के प्रायः सभी श्रेष्ठ कवियों की जीवनियों से पता चलता है कि उन्होंने अपने जीवन में किसी-न-किसी स्त्री के पति उन्मादक प्रेम का अनुभव अवश्य किया है, और उसी प्रेम की तीव्र अनुभूति से प्रेरित होकर वे अमर रचनायें लिखकर छोड़ गये हैं। यदि उनका प्रेम केवल काम-जनित और इन्द्रिय-सम्बन्धी होता तो उनकी आत्माओं से उसके सम्बन्ध में अपूर्व रसपूर्ण मार्मिक उद्गार कदापि व्यक्त न होते। साथ ही यह भी कहना मूर्खता का परिचायक होगा कि उनका प्रेम एकदम अतीन्द्रिय था। चण्डीदास के सम्बन्ध में किसी अंश तक यही बात कही जा सकती है। पर चण्डीदास के प्रेम में यह विशेषता थी कि इन्द्रिय-सम्बन्ध रखते हुए भी वह अन्यान्य कवियों की अपेक्षा अतीन्द्रिय की ओर अधिक झुका हुआ था। हम पहले ही लिख चुके हैं कि हम अनुमान से ऐसा लिख रहे हैं। क्योंकि यह भी सम्भव हो सकता है कि चण्डीदास का यह प्रेम इन्द्रिय-सम्बन्ध से एकदम वर्जित रहकर केवल आध्यात्मिक तथा उन्नत मानसिक रति में ही सीमित रहा है। क्योंकि वैष्णव कवियों ने राग-रति और काम-रति में विशेष अन्तर रखा है। बाह्य लक्षण एक होने पर भी दोनों में विशेष विभिन्नता बतलायी है।

समाज ने चण्डीदास को बहिष्कृत कर दिया, इससे उनको दुख नहीं हुआ। पर उनके कारण उनके कुटुम्बी जनों के हाथ का खान पान भी छूट गया। उनका भाई (जिसे उन्होंने नकुल के नाम से उल्लिखित किया है) रोकर उनके पैरों पर गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करने लगा कि तुम धोबन का सङ्ग त्याग दो नहीं तो सारा कुल कलङ्कित हो रहा है। इस पर--

शुनि चण्डीदास छाड़िया निश्वास
भिजिया नयन जले।
धोबिनी सहिते आमि जेन ताथे
उद्धार हइबो कुले॥

—"चण्डीदास नकुल की प्रार्थना सुनकर लम्बी सांस लेकर अश्रुपूर्ण स्वर में बोले कि मैं धोबन को साथ लेकर ही कुल में गृहीत होना चाहता हूँ--अकेले प्रवेश करना नहीं चाहता।"

पर नकुल ने न माना। वह समाजपतियों के आदेश से चण्डीदास के प्रायश्चित्त के लिए उनकी इच्छा के विरुद्ध तैयारियाँ करने लगा। नाना प्रकार के पक्वान्न तैयार किये गये और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को निमन्त्रण दिया गया। इधर चण्डीदास 'पिरीति पीरीति' की रट लगाते रहे—

पिरीति शांति पिरीति जाति, पिरीति कुटुम्ब हय।
पिरीति स्वभाव पिरीति विभव, पिरीति एमन वय॥

रामी को बड़ा डर था कि नकुल चण्डीदास का अत्यन्त प्रेमपात्र होने से कहीं सचमुच उसे उनके हाथ से छुड़ाकर उन्हें समाज में न ले ले। इसलिए एक दिन नदी के किनारे नकुल के साथ स्नान के समय भेंट होने पर उसने हाथ जोड़ कर अश्रुवर्षण करते हुए कहा—हे ठाकुर नकुल! तुम यह क्या आयोजन कर रहे हो?—

तोमार चरित्रे जगत् पवित्र
तोमार साधु जे वाद।
तुमि से सकल जाते-पाते तोलो
नीच प्रेमे उनमाद॥
वर्णाश्रम छार पिरीतिके दृढ़
जाहार पिरीति हय।—इत्यादि

"तुम्हारे चरित्र से जगत् पवित्र है; तुम साधुवादी पुरुष हो; तिस पर भी तुम जात-पांत का विचार करते हो! प्रेम के आगे वर्णाश्रम का बन्धन कोई चीज नहीं है!" नकुल के सामने तो रामी ने इस प्रकार तेजपूर्ण दृढ़ता से चण्डीदास के प्रायश्चित का विरोध किया, पर घर आकर रो-रोकर व्याकुल हो उठी। इसके बाद मौलसिरी के पेड़ के नीचे आकर दिन-रात नितान्त असहायावस्था में आँसू गिराती रही। उसे इस दशा में देखकर नकुल को भी रुलाई आ गयी। धोबिन ने बार बार आहें भर कर आवेशपूर्वक नकुल को समझाया और कहा—"चण्डीदास साथे धोबिनी संहिते मिश्रित एकुई प्राणे।" अर्थात्—"चण्डीदास के प्राणों के साथ मेरे प्राण एक ही रूप में मिश्रित हैं, उन्हें अलग करने की चेष्टा करने से अनर्थ हो जायगा। नकुल यद्यपि धोबिन की इस सच्ची लगन से पिघल गया, पर वह लाचार था, समाज का घोर अन्याचार सहन करने में वह असमर्थ था।

अन्त को एक दिन सामाजिक भोज का विराट् आयोजन हुआ। सब समाजपति निमन्त्रित थे। नकुल के हठ से बाध्य होकर चन्डीदास बाह्य प्रायश्चित्त के बाद ब्राह्मणों को अपने हाथ से भोजन परोसने लगे, यद्यपि वह मन-ही-मन 'रामी-रामी-रामी!,' 'पिरीति-पिरीति-पिरीति!' रट रहे थे। वह भोजन परोस ही रहे थे कि रामी यह समाचार पाकर पागलों की तरह वहाँ दौड़ी आयी और चन्डीदास

के सामने आकर खड़ी हो गयी। उसका अश्रु सिक्त सुन्दर मुखमण्डल देखते ही चंडीदास ने प्रेम-गद्‌गद् होकर परोसना छोड़कर दण्डधारी सामाजिक नेताओं की भरी सभा में उसे गले से लगा लिया। दोनों को प्रेम-गद्‌गद् आंखों से टप-टप आँसू गिरने लगे—

एमन पिरीत कभु देखि नाईं शुनि।
पराणे पराण बाँधा आपना आपनि॥
दुंहु कोड़े दुंहु काँदे विच्छेद भाविया।
तिल आधे ना देखिले जाय जे मरिया॥
जल बिनु मीन जेन कबहुँ ना जीये।
मानुषे एमन प्रेम कोथा ना शुनिये॥
कुसुमे मधुप कहि से नहे तूल।
ना आइले भ्रमर आपनि ना जाय फूल॥
कि छार चको-चाँद दुंहु सम नहे।
त्रिभुवने हेन नाईं चंडीदास कहे॥

"ऐसी प्रीति न कभी किसी ने देखी, न सुनी। अपने आप दोनों के प्राण परस्पर जड़ित हो गये हैं। दोनों परस्पर आलिङ्गनपूर्वक विच्छेद की भावना से रोते हैं। पल भी यदि एक दूसरे को नहीं देखता तो प्राण खो बैठता है; जैसे जल के बिना मछली नहीं जी सकती। ऐसे प्रेम का मर्म किसी मनुष्य ने पहले कहीं नहीं सुना था। कुसुम और भौंरे की तुलना इन दोनों के प्रेम से नहीं दी जा सकती; क्योंकि भ्रमर के न आने से फूल स्वयं उसके पास उड़कर कभी नहीं जाता। पर यहाँ तो यह बात नहीं है (स्वयं रामी विरह-यन्त्रणा से व्याकुल होकर चंडीदास के पास आकर दौड़ती है।) चकोर और चन्द्र की तुलना भी उनके लिए अत्यन्त तुच्छ है। चंडीदास कहते हैं

कि त्रिभुवन में कहीं ऐसा (प्राणस्पर्शी सुदृढ़ स्थायी प्रेम) वर्तमान नहीं है।"

सच्चे प्रेम की जय एक-न एक दिन होकर ही रहती है। समाज के अधिष्ठाताओं ने जब देखा कि नाना रूपों से तिरस्कृत, लांछित और निपीड़ित होने पर भी दोनों अपने प्रेम में अटल हैं वे भी उस अजर, अमर प्रेम की महत्ता को स्वीकार करने लगे और अस्पृश्या धोबन भी अन्त को स्पृश्या मानी गयी और समाज में ग्रहण की गयी !—

धोबिनी दांड़ाया द्विजपाने चाया पिरीति पिरीति भजे,
द्विजगण डाके व्यञ्जन आनिते धोबिनी तखन धाय !

"धोबन भोजन करने वाले ब्राह्मणों की ओर देखकर केवल 'प्रीति प्रीति भज रही है। ब्राह्मणों ने उसे खाना परोसने के लिए कहा और वह प्रेमपूर्वक दौड़ती हुई गयी !"

हरिजनों के उद्धार के विरुद्ध इस विंश शताब्दी के कट्टरपन्थी कैसा विद्रोह खड़ा कर रहे हैं, यह सभी को विदित हैं; पर चंडीदास की महान् प्रेमात्मा की महिमा ने चौदहवीं शताब्दी के उत्कट विद्रोहियों को अपने वश में करके एक अस्पृश्या को भी ब्राह्मणों के साथ समान अधिकार पर प्रतिष्ठित करने के लिए प्रेरित कर दिया ! सच्चे प्रेम और सच्ची लगन की कसौटी यहीं पर है।

चंडीदास अपने युग के महान् क्रान्तिकारी और रिफार्मर थे। उनका धर्म मनुष्य-धर्म था। बाशुली देवी के पुजारी होने पर भी वह देवी-देवताओं को केवल रूपक के बतौर मानते थे। राधा-कृष्ण उनके लिए देवी-देवता के बतौर नहीं थे—उन्हें वह प्रेम-देवता के द्विविध स्वरूप के बतौर मानते थे। उनके लिए उनकी बरेठन राधा से किसी अंश में कुछ कम नहीं थी—बल्कि वही उसकी असली राधा थी।

राधा और कृष्ण के नाम पर उन्होंने जितने भी पद रचे हैं वे सब रामी के प्रति अपने प्रेम के विभिन्न moods (भाव) को व्यक्त करने के लिए अन्योक्ति के बतौर लिखे गये हैं।

अंत को मानव-धर्म के सम्बन्धमें चंडीदास की महावाणी को उद्धृत करके हम इस प्रेमामृत-कथा को समाप्त करते हैं:—

शुनो रे मानुष भाई !
सवार उपरे मानुष सत्य
ताहार उपरे नाई !

"हे मनुष्य भाई, सुनो ! सब के ऊपर मनुष्य सत्य है, उसके परे कोई नहीं है।"

कामायनी

वर्तमान हिन्दी साहित्य-जगत् में प्रथम बार एक ऐसा काव्य-ग्रंथ प्रकाशित हुआ है जो विश्व-काव्य कहे जाने की विशिष्टता रखता है। मेरी इस उक्ति से साहित्यालोचक गण कहीं भ्रम में न पड़ जायँ। मेरा कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी में आज तक जितनी भी कविता-पुस्तकें निकली हैं वे विश्व-साहित्य में स्थान पाने योग्य नहीं हैं, बल्कि मेरी धारणा ठीक इसके विपरीत है। मेरा यह ध्रुव विश्वास है कि हिन्दी के कुछ विशिष्ट कवियों की अनेकानेक स्फुट कविताएँ इतनी उच्च कोटि की हैं कि विश्व-साहित्य के किसी भी युग की सर्वश्रेष्ठ कविताओं से टक्कर ले सकती हैं। पर साथ ही मैं इस बात पर भी ज़ोर देना चाहता हूँ कि हमारे वर्तमान साहित्य में अभी तक एक भी काव्य ऐसा नहीं रचा गया था जो वास्तव में विश्व-काव्य कहा जा सके। विश्व-काव्य से मेरा आशय ऐसे काव्य से है जो आरम्भ से अन्त तक एक केन्द्रगत मूल विषय पर लिखे जाने के साथ ही इस विराट् विश्व के अन्तरतम प्रदेश में निहित चिरन्तर रहस्य की चिर-विकासोन्मुखी सर्जना के आलोड़न-विलोड़न तथा संघर्ष-विघर्षमय चक्र-प्रगति की अभिव्यञ्जना से सम्बन्धित हो। पाश्चात्य साहित्य में इस प्रकार के काव्यों तथा नाट्य-ग्रन्थों की कमी नहीं है, पर हमारे यहाँ अभी तक इसका अभाव अखर रहा था। प्रसाद जी की 'कामायनी' ने इस अभाव को गहन भावों की अजस्र रसधारा से भर दिया है।

हिन्दी में महाकाव्य तथा खण्डकाव्यों की कमी नहीं है, पर एक तुलसीदास की रामायण को छोड़ कर और किसी भी ऐसे काव्य को विश्व-साहित्य के पारखियों के आगे पेश नहीं कर सकते थे, जिसके

सम्बन्ध में हम गर्व के साथ यह दावा कर सकते कि उसमें भी इस 'विश्वकुहर के इन्द्रजाल' का मायावी पट कला की अन्तर्विदारिणी तथा मर्म भेदिनी छुरिका से आर-पार चीर डाला गया है; अथवा उसमें निखिल को उद्भासित करने वाले अमर-आलोक का निरञ्जना-भास अपूर्व निपुणता के साथ अभिव्यंजित हुआ है।

'कामायनी' की रचना मानवात्मा की उस चिरन्तन पुकार को लेकर हुई है जो मानव-मन में आदि काल से जड़ीभूत अन्ध तमिस्र-पुञ्ज का विदारण कर जीवन के नव-नव वैचित्र्यपूर्ण आलोक-पथों से होते हुए अन्त में चिर-अमर आनन्द-भास के अन्वेषण की आकांक्षा से व्याकुल है। 'काव्य में अस्पष्टता तथा रूपक रस' शीर्षक लेख में मैं इस बात पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाल चुका हूँ कि रूपकात्मक काव्यों की विशेषता क्या है, उनका यथार्थ स्वरूप कैसा होता है और उनका महत्व किस बात पर है। रूपकात्मक कथानकों अथवा भावधाराओं में कवि अपने अन्त प्राणों के स्पन्दन का संचार कर, उन्हें शाश्वत वास्तविकता का अक्षय स्वरूप प्रदान कर, उनके द्वारा अमर सत्य का आभास अत्यधिक कलात्मक रूप से प्रस्फुटित कर सकता है। मिल्टन ने "पैरेडाइज़ लास्ट" में शेली ने अपने प्रामे-थ्यूज़ अनबाउण्ड" में, गेटे ने अपने "फौस्ट" में इसी कारण रूप-कात्मक शैली का अनुसरण किया है। महाकाव्यों तथा काव्यात्मक नाटकों के सम्बन्ध में जो बात सत्य है, उच्च कोटि की स्फुट कविताओं के सम्बन्ध में वही बात लागू है।

पर आजकल के 'प्रगतिशीलतावादी' यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि कोई रूपकात्मक अथवा छायात्मक रचना कला की दृष्टि से श्रेष्ठ हो सकती है, और न वे इस बात का ही समर्थन करना चाहते हैं कि गहन आध्यात्मिक भावों अथवा मानवात्मा सम्बन्धी रहस्यों के विश्लेषण से सम्बन्धित कोई रचना महत्वपूर्ण हो सकती है। वे व्यक्त

के परे अव्यक्त का अस्तित्व किसी भी रूप में स्वीकार करना नहीं चाहते, और हृदय की सत्ता केवल उसके भौतिक रूप में मानते हैं, सूक्ष्म तथा आध्यात्मिक रूप में नहीं। इसलिए हृदय तथा बुद्धि के संघर्ष में पीड़ित मानवात्मा के अवरुद्ध गर्जन के विस्फूर्जन का तनिक भी महत्व उनके लिए नहीं है और न वे इस विषय पर रचे गए काव्य-ग्रन्थ को श्रेष्ठ कला का निदर्शन मान सकते हैं। यदि प्रसादजी की 'कामायनी' का अविकल प्रतिरूप उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में प्रकाशित होता तो वे विश्व-साहित्य के शीर्षस्थानीय कलाकारों में निर्विवाद रूप से स्थान पा जाते। पर 'कामायनी' १९३७ में प्रकाशित हुई है, जब कि महायुद्ध के बाद की प्रतिक्रियात्मक विचारधारा की पंकिलता विश्व के सभी राष्ट्रों में स्तूपीकृत हो उठी है और उसकी सड़ायन भारत में भी बुरी तरह फैल गई है। हमारे यहाँ उच्च कोटि की कला की सच्ची परख का एक तो योंही अभाव है, तिस पर साम्यवाद के नाम पर फैली हुई दुर्गन्धित विचारधारा 'प्रगतिशीलता' के वेष में आकर हमारे वर्तमान साहित्य की उस नयी मनोवृत्ति को उसकी जागृति की प्रारम्भिक अवस्था में ही कुचल डालने के लिए दुर्धर्ष वेग से उद्यत हो रही है जो कला-रसज्ञता, काव्य-मर्मज्ञता तथा प्रकृति के मूल में अवस्थित अमर सौन्दर्य की अनुभूति की प्रेरणा का संचार करने लगी थी।

एक बात और है। अधीरता तथा अस्थिरता के इस युग में, जीवन के सब क्षेत्रों में समय-समय पर क्षणिक मनो-विनोद की उत्तेजक घूंटों द्वारा संघर्षमय वास्तविक जीवन की कटुता को भूलने की आकांक्षा पाई जाती है (इस आकांक्षा का एक प्रतिफलित रूप सिनेमा है) और लोग किसी भी विषय पर धैर्य तथा अध्यवसाय द्वारा मनन करने का कष्ट उठाने के लिए तैयार नहीं हैं, और छोटी-छोटी कहानियों तथा छोटी-छोटी कविताओं की माँग पत्र-साहित्य में बहुत बढ़ रही है।

ऐसी हालत में, जब कि किसी बड़ी खण्ड कविता को देखकर ही लोग घबरा उठते हैं, 'कामायनी' जैसे बृहत् काव्य को, जिसमें आकार की दीर्घता के साथ ही रसों तथा भावों की गहनता भी भरी पड़ी हो, पूर्ण अध्ययनपूर्वक पढ़ने का कष्ट कितने 'प्रगतिपर्थी' उटाने को तैयार होंगे, यह प्रश्न भी विचारणीय है।

पर इन सब निराशाजनक कारणों से 'कामायनी' का महत्व न घटकर बृहत्तर तथा महत्तर रूप में प्रकट होता है। असल बात यह है कि शताब्दी चाहे उन्नीसवीं हो, चाहे बीसवीं; चाहे इक्कीसवीं, किसी विशेष युग की विचार-धारा समुन्नत, 'मिस्टिक' तथा रूपकात्मक कला के लिए चाहे कैसी ही प्रतिकूल तथा प्रतिक्रियात्मक हो इससे उसके मर्म में निहित चिरन्तन सत्य पर तनिक भी आंच नहीं आ सकती। वह सदा सूर्य की तरह प्रोज्वल रहेगी, और युग का प्रकोप उसे श्रावण के मेघों की तरह भले ही कुछ काल के लिए निबिड़ रूप से आच्छादित कर दे।

इतनी बड़ी भूमिका लिखने का मेरा यह उद्देश्य है कि 'कामायनी' की विस्लेषणात्मक आलोचना के पहले मैं यह घोषित करने को परम आवश्यकता महसूस करता हूँ कि 'कामायनी' का प्रकाशन हिन्दी काव्य-साहित्य के इतिहास में कितनी महत्वपूर्ण घटना है। साथ ही यह भी दिखाना मैंने उचित समझा है कि किन प्रतिक्रियात्मक तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में 'कामायिनी' का जन्म हुआ है; क्योंकि ये परिस्थितियां किसी भी उच्चकोटि की कलात्मक रचना के लिए क्षय रोग के अदृश्य किन्तु प्राणशोषी कीटाणुओं की तरह घातक सिद्ध हो रही है।

'कामायनी' के रहस्यमय, रूपकात्मक रंग-मंच का उद्घाटन एक वैचित्र्यपूर्ण तथा अपूर्व रोमांचकर नाटकीय वातावरण में होता है। पौराणिक आख्यानों के अनुसार इस विश्व में मानवी सृष्टि के पहले

दैवी संस्कृति की घोर अहम्मन्यता के दारुण दमन का प्रबल प्रकोप दिक्‌दिगान्तर में प्रतिध्वनित हो रहा था। निःसीम अहंभाव का यह अप्रतिहत अनाचार अनवरत आत्मतोषण की यह आकण्ठ-उच्छ्रलित परिपूर्णता मूल प्रकृति के अनादि नियमों के प्रतिकूल है। इसलिए दैवी ने आत्म-विलास की चरितार्थता के लिए जिस स्वर्ण-संसार का निर्माण किया था वह रुद्र के अवरुद्ध रोष से भीषण प्रलय-प्रवाह में बह चला। इस निखिल लयकारी जल-प्लावन में मनु की नौका दुस्तर वेग का अतिक्रमण करती हुई उत्तर को ओर चली गई और अन्त में प्लावन का प्रवेग उतार में आने पर हिमवान पर्वत पर आ लगी। यहाँ पर से 'कामायनी' का आख्यान प्रारम्भ होता है:—

हिम गिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छांह।
एक पुरुष भीगे नयनो से देख रहा था प्रलय-प्रवाह।
नीचे जल था ऊपर हिम था, एक तरल था एक सघन,
एक तत्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।
दूर-दूर तक विस्तृत था हिम, स्तब्ध उसी के हृदय समान।
नीरवता सी शिला-चरण से, टकराता फिरता पयमान।
तरुण तपस्वी-सा वह बैठा, साधन करता सुर-श्मशान,
नीचे प्रलय-सिंधु लहरों का होता था सकरुण अवसान।

इस प्रकार नीचे प्रलय-जल और ऊपर दीर्घ-विस्तृत हिमानी की स्तब्धता के सन्नाटे में बैठा हुआ वह तरुण तपस्वी अपने विलासोन्मत्त भूतकालिक जीवन की महोन्धता, प्रलय-प्रवाहित वर्तमान जीवन की लोमहर्षक शून्यता तथा अन्धकारमय भावी जीवन की रहस्यमयी अनिश्चितता पर विचार कर रहा था। चिन्ता को सम्बोधित करते हुए वह कहता है:—

ओ चिन्ता की पहली रेखा, अरी विश्व-वन की व्याली;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कम्प-सी मतवाली!

हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल-लेखा;
हरी-भरी सी दौड़-धूप ओ, जल-माया की चल-रेखा!
इस ग्रह कक्षा की हलचल री, तरल गरल की लघु लहरी;
जरा अमर जीवन की और, न कुछ सुनने वाली बहरी!
अरी व्याधि की सूत्र-धारिणी, अरी आधि! मधुमय अभिशाप!

इत्यादिक पंक्तियों के एक विशेष गतिशील छन्द-प्रवाह द्वारा एक ऐसा अपूर्व वातावरण कवि हमारी अन्तरिन्द्रिय के सम्मुख उपस्थित करता है जो इस नाट्यात्मक काव्य के अन्तरहस्य की सांकेतिक सूचना प्रारम्भ से ही हमको देने लगता है।

आगे की पंक्तियों से मनु का जो तत्कालीन मनोद्वेग व्यक्त होता है, वह हमारी आँखों के आगे एक ऐसा मायामय दृश्यपट खड़ा करता है जो और भी अधिक सूचनात्मक है। पंक्तियाँ इतनी सुन्दर हैं कि नमूने के बतौर कुछ को यहाँ पर उद्धृत करने का लोभ संभाला नहीं जा सकता:—

मणिदीपों के अन्धकारमय अरे निराशापूर्ण भविष्य!
देव-दम्भ के महामेध में सब कुछ ही बन गया हविष्य।
अरे अमरता के चमकीले पुतले! तेरे वे जयनाद।
कांप रहे हैं आज प्रतिध्वनि बन कर मानों दीन विषाद।
वह उन्मत्त विलास हुआ क्या? स्वप्न रहा या छलना थी!
देव-सृष्टि की सुख-विभावरी ताराओं की कलना थी।
चलते थे सुरभित अंचल से, जीवन के मधुमय निःश्वास।
कोलाहल में मुखरित होता देव-जाति का सुख-विश्वास।
कीर्ति, दीप्ति शोभा थी नचती, अरुण किरण-सी चारों ओर।
सप्त सिंधु के तरल कणों में, द्रुम दल में आनन्द-विभोर।
सुख, केवल सुख का वह संग्रह, केन्द्रीभूत हुआ इतना—
छाया-पथ में नव-तुषार का सघन मिलन होता जितना।

भरी वासना-सरिता का वह कैसा था मदमत्त-प्रवाह !
प्रलय-जलधि में संगम जिसका देख हृदय था उठा कराह ।

इन पंक्तियों को हमने केवल उनकी सुन्दरता के लिए ही उद्धृत नहीं किया है । इनका महत्व इस बात पर भी है कि मनु के इस मर्मान्तक मानसोद्गार से सृष्टि में क्रान्ति की एक निश्चित धारा का सूत्रपात हुआ और मनुष्य अपनी मनोवैज्ञानिक विषमता के जिस संघर्ष विघर्षमय चक्र संघूर्णन से प्रपीड़ित है उसका मूल कारण भी मनु की पूर्वोल्लिखित चिन्ताधारा ही है । अखण्ड-ऐश्वर्य-सम्भोग के अप्रतिहत आत्मोल्लास में, तरल अनल की अविरल प्रज्वलता की तरह, चिन्ता की धूम्ररेखा का लेश भी नहीं रह सकता। देवलोक में वेदना की अनुभूति अणु-परिमाण में भी वर्त्तमान न रहने से अमिश्रित सुख का निरन्तर पुञ्जीभूत तुषार-संघात सृष्टि की छाती पर पाषाण-भार की तरह पड़ा हुआ था । अपनी 'स्वर्ग हइते विदाय' कविता में रवीन्द्रनाथ ने इस निर्वेदन सुख के सम्बन्ध में कहा है—

शोकहीन
हृदिहीन, सुखस्वर्गभूमि, उदासीन
चेये आछे । अश्वस्थ-शाखार
प्रान्त हते खसि गेले जीर्णतम पाता
जतटुकु बाजे तार, ततटुकु व्यथा
स्वर्गे नाहि लागे, जबे मोरा शतशत
गृहच्युत हतज्योति नक्षत्रेर मतो
मुहूर्त्ते खसिया पड़ि देवलोक हते
धरित्रीर अन्तहीन जन्ममृत्यु स्रोते ।

[सुखस्वर्गभूमि शोकहीन, हृदयहीन तथा उदासीन होकर देख रही है। अश्वत्थ की शाखा से जब एक जीर्ण पत्ता भी नीचे गिरता है तो वह

जितना पीड़ित होता है उतनी व्यथा भी स्वर्ग में कोई अनुभव नहीं करता—जब हम लोग गृहच्युत, हतज्योति नक्षत्रों के समान एक मुहूर्त में स्वर्ग से गिरकर धरित्री के अनन्त जन्म-मृत्यु स्रोत में बहने लगते हैं।]

इस निर्विचित्र तथा निश्चल पाषाणता के प्रति जब सृष्टि की अन्तरात्मा में विद्रोह का अन्तर्नाद उपस्थित हुआ तो उसके फल-स्वरूप मनु के हृदय से जो मर्मोद्गार निर्गत हुआ उसी ने मानवात्मा की चिरन्तन वेदनामयी अनुभूति की प्रथम सूचना दी"। इस वेदना-बोध से यद्यपि मानव-प्राण प्रतिपल व्यवस्त-विध्वस्त, प्रपीड़ित तथा उद्वेलित है, तथापि उसकी सजग गतिशीलता पतित-पावनी जाह्नवी की निरन्तर-प्रवाहित पुण्य-धारा की तरह उसकी स्थूलता को क्षालित करती हुई उसके अणु-अणु में मंगलरूपी वैचित्र्य-शालिनी कविता का पुलक-प्लावन 'हिल्लोलित' करती रहती है—

नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान।
व्यथा से नीली लहरों बीच,
बिखरते सुख-मणिगण द्युतिमान।

इसलिए मानव-जीवन की ट्रेजेडी का कारण उसकी वेदनात्मक अनुभूति नहीं है। इसका मूल कारण है मनुष्य में अवशिष्ट देवत्व का संस्कार। मनु देवताओं से बिछुड़ने तथा मन में उनके प्रति विद्रोह का भाव रखने पर भी अपने देव-संस्कारों को समूल उखाड़ नहीं सके थे, और देवों से एक पूर्णतः विभिन्न (अर्थात् मानवी) सृष्टि की आकांक्षा मन में रखते हुए भी आत्म-विलास की स्वार्थमयी वासना का दम्भाभास उनकी आत्मा में वर्तमान था। इसलिए श्रद्धा के संयोग से उनके अन्तस्तल में सुख-दुःख-मयी वेदनानुभूति का अनन्त

वैचित्र्यपूर्ण पुलक-प्रवाह तरंगित होने पर भी वह निखिल-मंगलकारिणी आनन्दधारा में निर्मुक्त वेग से, अबाध गति से अपने को प्रवाहित नहीं कर पाये। आत्म-तृप्ति की ऐकान्तिक संकीर्णता का वासनावरोध उन्हें अपनी मानवी प्रजा के सार्वजनिक कल्याण के प्रति उदासीन बना कर उनके भीतर केवल अपनेपन के निरन्तर-वर्धित सुख की चरितार्थता की स्वार्थान्ध आकांक्षा के सर्वभक्षी अनल को उद्दीपित करता चला गया।

एक ओर अहंभाव के संकीर्ण कुण्ड का प्रज्वलित प्रदाह और दूसरी ओर निखिल विश्व में प्रेम-विस्तार की करुण वेदनाशील कामना की निर्मुक्त उड़ान—मनु की इन दो द्वन्द्वात्मक अनुभूतियों का संस्कार उनकी मानव-सन्तान में भी पूर्ण मात्रा में वर्तमान पाया जाता है।

महाकवि गेटे के विश्व-विख्यात रूपकात्मक नाट्य-काव्य 'फ़ौस्ट' की आलोचना करते हुए कार्लाइल ने एक स्थान पर फ़ौस्ट की अशान्ति के मूल कारण का वर्णन करते हुए लिखा है—

He feels that he is with others, but not of them. Pride and an entire uncompromising though secret, love of self are the mainsprings of his conduct. Knowledge is with him precious only because it is power; even virtue he would love chiefly as a finer sort of sensuality, and because it was his virtue. Go where he may, he will find himself again in a conditional world, widen his sphere as he pleases, he will find it again encircled by the empire of Necessity; the gay island of Existence is again but a fraction of the ancient realm of Night.

अर्थात्—'फ़ौस्ट समझता है कि वह संसार के अन्यान्य मानव-प्राणियों के साथ होने पर भी उनमें से नहीं है। (अर्थात् उनसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।) दर्प तथा अनियन्त्रित किन्तु गुप्त आत्म-प्रेम उसके चरित्र की गति के प्रधान उत्स हैं। ज्ञान का आदर वह इसलिए करता है कि उसे वह शक्ति का मूल सूत्र मानता है; परमार्थ से वह इसलिए प्रेम करता है कि वह उसे भी एक उच्चकोटि की इन्द्रियपरायणता समझता है, और साथ ही यह अनुभव करता है कि वह उसकी निजी अनुभूति है। इस प्रकार की प्रकृति का मनुष्य चाहे कहीं जाय, वह फिर-फिर अपने को एक आपेक्षिक जगत् में पायेगा। वह अपनी अनुभूति के क्षेत्र को चाहे किसी परिमाण में विस्तृत करे, किन्तु फिर-फिर वह उसे अभाव के साम्राज्य से घिरा हुआ पायेगा। उसकी मानसी सृष्टि का आनन्दोज्वल द्वीप फिर जीवन-निशीथ के चिर-पुरातन अन्धकार-राज्य का एक तुच्छतम खंड-सा जान पड़ेगा।"

देवत्व से छिन्न मनु की अशान्त, अधीर तथा अस्थिर मानसिकता चिरन्तर मानव की इसी व्याकुलता का रूपक है, जिसका चित्रण गेटे ने फ़ौस्ट के चरित्र में किया है। फ़ौस्ट की आत्मा में देवत्व के संस्कार समधिक रूप में वर्तमान थे और वह विश्व की सब विभूतियों को केवल अपनी अनियन्त्रित आत्म-तृप्ति के साधन के रूप में प्राप्त करना चाहता था। पर चूंकि वह देव नहीं, मनुष्य था, इसलिए अनेक रूपों में सुख-साधनों से भरपूर होने पर भी वह अपनी आत्मा में एक विश्व-ग्रासी अभाव की महाशून्यता का अनुभव किया करता था। प्रकृति ने मनुष्य को इस विराट् अभाव को भरने के लिए एक अमोघ साधन प्रदान किया है। वह है सर्वभूतों में अपने को और अपने में सर्वभूतों को निमज्जित करने की अनुभूति का अनुशीलन। पर मनु और फ़ौस्ट ने (जो मानवी प्रतिभा के विकास की प्रखरता के रूपक-स्वरूप हैं) इस परम तत्त्व को नहीं समझा। मनु के परम संकट-काल में उन्हें श्रद्धा

मिल गई थी, जिसकी निखिल-मंगलकारिणी स्नेह-रस-धारा की पावन सरसता पाकर वह जीवन के गहन-वन में आलोक की सुगम पथ-रेखा देख सकते थे। पर वह ऐसे मोहान्ध बने थे कि श्रद्धा से भी अपने ऐकान्तिक सुख की स्वार्थमयी साधना की सहायता चाहने लगे। श्रद्धा मनु को बार-बार समझाती रही कि—

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है, अपना नाश करेगा !
सुख को सीमित कर अपने में केवल दुख छोड़ोगे।
इधर प्राणियों की पीड़ा लख अपना मुँह मोड़ोगे।
ये मुद्रित कलियां दल में सब सौरभ बन्दी कर लें।
सरस न हों मकरन्द-बिन्दु से खुल कर तो ये मर लें।
सुख अपने सन्तोष के लिए संग्रह-मूल नहीं है।
उसमें एक प्रदर्शन जिसको देखें अन्य, वही है।

पर मनु की आँखें नहीं खुलीं। वह निखिल प्रकृति के मूल रहस्य के केन्द्र-बिन्दु में अपने को स्थिर रखकर अपनी मंगलमयी प्रतिभा के पराग की सुरभि समस्त विश्व में विकीरित करना नहीं चाहते थे। वह अनन्त जीवन के अनन्त वैचित्र्य का रस लोभी भ्रमर की तरह पान करके आत्मोन्नति की स्वार्थमयी सुख-साधना के उद्देश्य से निरन्तर प्रगति शीलता के पथ में आन्दोलित रहना चाहते थे—

स्थिर मुक्ति प्रतिष्ठा में वैसी चाहता नहीं इस जीवन की।
मैं तो अबाध-गति मरुत सदृश हूँ चाह रहा अपने मन की।
जो चूम चला जाता अग-जग, प्रति पग में कंपन की तरंग—
वह ज्वलनशील गतिमय पतंग।

टेनिसन के युलिसीज़ की तरह वह जीवन-रस की अशान्त, अतृप्त,

ज्वालामयी अभिलाषा के दुरतिक्रम्य मरीचिका-पथ में आगे, आगे और आगे बढ़े चले जाना चाहते हैं। यह अनन्त पिपासामयी आकांक्षा आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता की स्वार्थान्ध कर्मोन्मत्तता-जनित रक्तशोषी तृषा का उपयुक्त रूपक है। इस प्रकार की मोह-लालसा का स्वाभाविक परिणाम निखिलग्रासी काल-रात्रि के विकराल अंधकार का आवाहन है। कार्लाइल-वर्णित वही Ancient realm of Night (अंधकारमयी मोहनिशा का चिर-पुरातन साम्राज्य) इस प्रकार की अकल्याणी दुराशा को घेरे बिना नहीं रह सकता। मनु भी इस घनाच्छन्न तामसिकता की भयंकरता का अनुभव किए बिना नहीं रह सकते—

जीवन-निशीथ के अन्धकार !
तू घूम रहा अभिलाषा के नव-ज्वलन धूम सा दुर्निवार
जिसमें अपूर्ण लालसा, कसक, चिनगारी सी उठती पुकार
यौवन मधुवन की कालिन्दी बह रहा चूम कर सब दिगन्त
मन-शिशु की क्रीड़ा-नौकाएँ बस दौड़ लगाती है अनंत
कुहुकिनि, अपलकदृग के अंजन ! हंसती तुझ में सुन्दर छलना
धूमल रेखाओं से सजीव चंचल चित्रों की नव-कलना
इस चिर प्रवास श्यामल-पथ में छाई पिक-प्राणों की पुकार
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार।

श्रद्धा—कल्याणाया कामायनी—की अनन्त करुणामयी, अविरल स्नेह रसमयी, विपुल विश्वासमयी, मंगल अभिषेकमयी, स्निग्ध शांतिमयी प्रीति के सजल तथा सलज उपहार को ठुकराकर जब वह उच्छृंखल तथा उद्दाम आकांक्षा की मोह तरग में बहने लगे तो अपनी मानव-प्रजा-सृष्टि के लिए उन्होंने चिरकालीन अभिशाप प्राप्त किया। इस अज्ञात तथा रहस्यमय अभिशाप के पीड़न का अनुभव क्या मानव-जाति प्राचीनतम युग से वर्तमान समय तक नहीं करती आई है ?

नाना द्वन्द्व, संघर्ष, विशृंखला, असामञ्जस्य, वैमनस्य तथा विरोध के चक्रजाल से मानव संसार ऐसा जकड़ा हुआ है कि यहाँ सँभलता है तो वहाँ उलझता है। मिल्टन ने भी अपने 'पैरेडाइज़ लास्ट' में आदम और हौवा के लालसासक्ति-जनित पतन से सारे मानव समाज पर जो अभिशाप आरोपित करवाया है उसका भी मूल कारण आदि-मानव-प्रकृति की मोहान्धता ही है।

इस अभिशाप के वज्रकोष से जब मनु स्तब्ध तथा विभ्रांत अवस्था में निश्चल बैठे रहे तो अकस्मात एक ज्योतिर्मयी प्रतिमा की हेमवती छाया उनकी आँखों के आगे भासमान हुई। निखिलव्यापी तमोजाल की जड़ता में अरुण किरणों की कलित कांति से चैतन्य का स्फुरण करने वाली यह सञ्जीवित प्रतिमा थी इड़ा, जो मूर्तिमती बुद्धि थी। श्रद्धा के विसर्जन के साथ ही सरल मधुर विश्वास, सरस प्रेम तथा शुचि-स्निग्ध समवेदना के भावों को तिलाञ्जलि देकर मनु इड़ा के बुद्धि-वैभव को पूर्णतया अपनाकर विज्ञान की अशेष कर्ममयी, विपुल चक्रमयी, प्रचण्ड संघर्षमयी ज्वाला को गले की माला बनाकर उसकी लपटों को दिग्विदिक् विकीरित करने के महा-समारोह में अत्यन्त उल्लासपूर्वक लग गये। विज्ञान प्रणोदित यह सर्वशोषी, अतृप्त कर्मतृष्णा की आग जहाँ एक ओर आत्मप्रसूत भस्म-राशि को स्तूपी-कृत करके जड़-जगत् के भौतिक वैभव का निर्माण करती है, वहाँ मानस-जगत् की मंगलमयी पुण्य-पीयूषधारा का स्रोत एकदम सुखा देती है। मनु के जीवन में इस ज्वाला का वही स्वाभाविक परिणाम सिद्ध होकर रहा।

पौराणिक आख्यान में इड़ा को मनु की यज्ञ जनिता दुहिता कहा गया है। रूपक की दृष्टि से इड़ा— अर्थात् बुद्धि—मनुष्य की आत्मज विभूति है जिसकी उत्पत्ति उसकी चिर-जिज्ञासु मनोवृत्ति की अज्ञात अन्तर्साधना द्वारा हुई है। यदि इस परम शक्तिशालिनी विभूति को

निःस्वार्थ तथा अनासक्त भाव से अपनाकर, हृदय के सरस तथा समवेदनशील भावों के संयोग से अभिषिक्त करके सुप्रश्नालित किया जाय तो उससे सबभूतों की विपुल हितसाधना हो सकती है और साथ ही मानव-समाज में संघर्ष की दुर्धर्षता के बदले सामञ्जस्य की स्निग्ध शान्ति का सुन्दर सञ्चार हो सकता है। पर सभ्य मानव ने वैज्ञानिक बुद्धि को घोर स्वार्थ तथा ससक्ति के साथ अपनाकर, अपनी इस मानव-प्रसूत आत्मजा के साथ मानो अत्यन्त जघन्यतापूर्वक व्यभिचार—बल्कि बलात्कार—किया है, और हृदय को कोमल-कमनीय वृत्तियों के सुमधुर विश्वास-परायण, समवेदनात्मक भावों को पैरों-तले कुचल डाला है। यह ठीक उसी तरह हुआ है जिस प्रकार मनु ने श्रद्धा-विश्वासरूपिणी; मंगल-मधु-धारा वर्षिणी कामायनी की अवज्ञा करके उन्मत्त लालसा-प्रज्वालिना अशेष कर्म-चक्रिणी, अनन्त अतृप्ति-प्रदायिनी बुद्धिरूपिणी इड़ा को अपने कर्मयज्ञ की प्रधान पुरोहित बनाकर अन्त में उसके साथ बलात्कार किया। यह बलात्कार स्वार्थ-सुखान्वेषी मनु की आसक्ति की पराकाष्ठा था। इसके फलस्वरूप मनु के आत्मसृष्ट प्रजातन्त्र में विद्रोह की दावाग्नि का भड़कना स्वाभाविक था। पर मनु इस विद्रोह से तनिक भी वित्रस्त न हुए। उनकी अधिकारोन्मति उच्छृङ्खलता इस हद तक बढ़ गई थी कि वह अपने अत्याचारों की दुर्धर्षता को सहज स्वाभाविकता समझ रहे थे। यह सोच रहे थे कि उन्होंने अपनी प्रजा को समुचित विधि विधान तथा नियमानुशासन के बन्धन में बाँधकर और यथोचित वर्ण-विभाग में विभक्त करके अपना कर्तव्य पूरा किया है, पर वे नियम उनके लिए लागू नहीं हो सकते, क्योंकि वह 'डिक्टेटर' हैं और उच्छृङ्खलता की आनन्द-तरंगों में निर्मुक्त गति से बहने के पूरे अधिकारी हैं—

जो मेरी है सृष्टि उसी से भीत रहूँ मैं,
क्या अधिकार नहीं कि कभी अविनीत रहूँ मैं!

विश्व एक बन्धन-विहीन परिवर्तन तो है:
इसकी गति में रवि-शशि-तारे ये सब जो हैं—
रूप बदलते रहते, बसुधा जलनिधि बनती,
उदधि बना मरुभूमि जलधि में ज्वाला जलती !
तरल अग्नि की दौड़ लगी है सबके भीतर,
गल कर बहते हिम-नग सरिता लीला रच कर ।

जीवन में अभिशाप, शाप में ताप भरा है,
इस विनाश में सृष्टि-कुञ्ज हो रहा हरा है ।
मैं चिर-बन्धन हीन मृत्यु-सीमा उल्लंघन
करता सतत चलूँगा यह मेरा है दृढ़ प्रण ।
महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण हो अपना,
चेतनता की तुष्टि वही है फिर सब सपना ।

इन विचारधारा की आत्मविनाशी तरङ्ग में बहकर मनु विद्रोही प्रजा के क्रूर संहार में रत हो जाते हैं ।

इस प्रकार सारा आख्यान आधुनिक बुद्धिवादी सभ्यता के कुटिल चक्र के अत्यन्त सुन्दर रूपक के रूप में हमारे सामने आता है (यद्यपि यह कवि का गौण उद्देश्य है, क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य तो मानव-जाति की चिरन्तन संघर्ष-विघर्षमयी वेदना को मूल भावधारा का परिप्लावित प्रवाह प्रदर्शित करके उसे शाश्वत मंगल की ओर प्रेरित करता है) । कोरी बुद्धि द्वारा प्रसूत वर्तमान जड़वादात्मक विज्ञान ने मानव-समाज को शतधा विच्छिन्न तथा विभक्त करके उसमें नाना संघर्षों तथा द्वन्द्वों की अशान्ति उत्पन्न कर दी है । प्रभुत्ववादियों की इस भयंकर वैज्ञानिक मनोवृत्ति ने साधारण जन-समूहों में विद्रोह के भाव भर दिए हैं, पर नियमानुशासन चलानेवाले उच्छृङ्खल डिक्टेटरगण स्वयं किसी नियम का नियन्त्रण मानने को तैयार न होकर

चारों ओर दमन, अत्याचार तथा रक्तपात का चक्र चला रहे हैं। इस अन्तरराष्ट्रीय अशांति तथा विश्वव्यापी भ्रम-भ्रांति के दूरीकरण का केवल एक ही सच्चा उपाय है - बुद्धि और श्रद्धा का सुमङ्गल सहयोग। केवल मात्र हृदय के करुण-कोमल समवेदनात्मक तथा श्रद्धा-विश्वास-पूर्ण भावों से विश्व का चिर प्रगतिशील चक्र सञ्चालित तथा नियमित नहीं हो सकता, और न कोरी बुद्धि की अनवरुद्ध तथा अनियन्त्रित वेगशीलता ही विश्व में स्थायी कल्याण की प्रतिष्ठा करने में समर्थ हो सकती है। 'कामायनी' के कवि का केन्द्रगत सन्देश यही है। यह सन्देश श्रद्धा के निम्न मर्मोद्गार द्वारा भलीभाँति प्रकट होता है जिसे उसने अपने प्रिय पुत्र को मनु से विच्छिन्न, भ्रान्ति से विक्षुब्ध इड़ा के हाथों सौंपते हुए वहिर्व्यक्त किया था—

हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार, हर लेगा तेरा व्यथा-भार;
यह तर्कमयी, तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब संताप निचय—हर ले, हो मानव भाग्य उदय;
सब की समरसता कर प्रचार, मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार।

अपने इस अन्तिम त्यागमय महान सन्देश के बाद कामायनी दोनों को छोड़कर चली जाती है। काव्य की वास्तविक समाप्ति यहीं पर हो जानी चाहिए थी; क्योंकि उसकी नाट्यात्मक अभिव्यक्ति इस स्थान पर पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाती है। यहाँ पर अन्तिम यवनिका पड़ जाने से काव्य के नाटकीय अन्त का चरम सौंदर्य प्रस्फुटित हो उठता। पर कवि को शायद नाटकीय सौन्दर्य की अपेक्षा पूर्णानन्दमयी माङ्गलिक परिणति दिखाना अधिक अभीष्ट था ! इसलिए उसने श्रद्धा, इड़ा, मनु तथा मानव, चारों का मिलन पुण्य प्रशान्त मानस-प्रदेश में संघटित कराके समरसता के स्निग्ध-मधुर आनन्द की पीयूषवर्षा से सबको अभिषिक्त किया है।

सारे काव्य को आदि से अन्त तक मननपूर्वक पढ़ जाने पर यह धारणा बद्धमूल हो जाती है कि सारी रचना एक महान् आदर्श के मूल भास से ओत-प्रोत है। शाश्वत सत्य की चिर-पुरातन धारा के आधार पर कवि ने एक ऐसे सुन्दर रूपक का निर्माण अत्यन्त मनोरम रूप से किया है जो आधुनिक सभ्यता की संघर्षमयी विषमता और वर्तमान संसार के प्रभुत्ववादी युग में फैली हुई विद्रोहात्मक अशांति के भीषण चक्रजाल का यथार्थ निदर्शन कराता है और साथ ही हमें इस सर्वनाशी विषमता के परे उठकर समरसता के पुण्य प्रकाश का अमर-पथ प्रदर्शित कराता है।

यदि आदर्श पर विचार न कर कोरी कला की दृष्टि से हम इस रचना को देखें तो भी उसकी श्रेष्ठता में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। प्रसाद जी इस काव्य में प्रारम्भ से अन्त तक सर्वत्र अपने उन्नततम तथा चरम रूप में व्यक्त हुए हैं। भाव, भाषा तथा छन्द-सङ्गीत की अपूर्व मनोरमता, नाटकीय निपुणता तथा सुसंयत सामञ्जस्य के सम्मिलित चमत्कार ने कामायनी, में जादू की माया का-सा प्रभाव दिखाया है। प्रसाद जी की अन्य सब कृतियाँ यदि किसी कारण से विलीन हो जायँ (भगवान न करे कभी ऐसा हो) और केवल 'कामायनी' रह जाय तो भी वह चिरकाल तक हिन्दी-जगत में—बल्कि विश्व-साहित्य संसार में—अमर होकर रहेंगे, यह बात बिना किसी द्विविधा, के कही जा सकती है।

१९३७

———

शरत्चन्द्र की प्रतिभा

शरत्चन्द्र के प्राणावेग की तीव्रता का ही यह फल है कि साहित्य-जगत में प्रवेश करते ही उन्होंने जनता की प्राण-धारा को अत्यन्त प्रबलता से आंदोलित कर दिया। जिस द्रुत गति से शरत्चन्द्र ने लोकप्रियता प्राप्त की वह अभूतपूर्व थी। वर्तमान युग में भारत के अन्य किसी भी श्रेष्ठ कलाकार को अपनी पहली ही रचना से साहित्य में शीर्ष-स्थान प्राप्त कर लेने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। जब मैं शरत् बाबू से प्रायः सत्रह वर्ष पहले पहली बार मिला था तो उन्होंने मुझसे कहा था कि जब उनकी 'रामेर सुमति' शीर्षक कहानी 'यमुना' नामक एक अत्यन्त साधारण सामयिक पत्रिका में छपी थी तो उस समय उक्त पत्रिका के केवल पचास ग्राहक थे। उस कहानी के छपते ही दूसरे ही महीने उसके पाँच सौ ग्राहक हो गए; और उस विशेष अङ्क की, जिसमें उनकी कहानी छपी थी, ऐसी माँग हुई कि 'यमुना' के अध्यक्ष को उसे फिर से छापना पड़ा। शरत् बाबू ने सपरिहास मुझसे कहा कि इस प्रकार वह बायरन की तरह एक विशेष रात में सो कर जब प्रातःकाल उठे तो उन्होंने सारे बङ्गाल में अपने को प्रसिद्ध हुआ पाया।

मैं मानता हूँ कि लोक-प्रियता ही किसी कलाकर की श्रेष्ठता का प्रमाण नहीं हो सकती और अधिकांश श्रेष्ठ कलाकार या तो अपने जीवन के अन्तिम काल में या अपनी मृत्यु के बाद मान्य हुए हैं। पर शरत्चन्द्र की लोकप्रियता के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रारम्भ में किस श्रेणी की जनता ने उन्हें वरण किया। 'यमुना' के

जो पाँच सौ ग्राहक हुए उनमें से अधिकांश व्यक्ति सुरुचि-सम्पन्न साहित्यिक थे, यह बात मैंने शरत् बाबू के ही मुँह से सुनी है। उन साहित्यिकों के प्रचार के फल स्वरूप जन-साधारण भी शरत्चन्द्र की मायावी कला का रस ग्रहण करने के लिए उत्सुक हो उठे और उन्होंने अपनी बुद्धि की पहुँच तथा भावना की गति के अनुसार उसमें एक ऐसी विशेषता पाई जो उन्हें अपूर्व तथा अनिर्वचनीय सी लगी। साधारणतः जनता को वही रचनाएँ अधिक प्रियकर लगती हैं जिनमें या तो लोमहर्षक घटनाओं का वर्णन हो या स्त्री-पुरुष सम्बन्धी अनाचारों की उच्छृङ्खल क्रीड़ा का लोल-लीला-लास्य नग्नरूप में चित्रित किया गया हो। पर शरत्चन्द्र की लोकप्रियता की नींव जिन दो प्राथमिक छोटी-छोटी रचनाओं ('रामेर सुमति' तथा 'बिदुर छेले') द्वारा प्रतिष्ठित हुई है उनमें ये दोनों बातें लेश-परिणाम में भी वर्तमान नहीं हैं। इन दोनों कहानियों में शरत्चन्द्र ने नारी-हृदय की अत्यन्त सुकुमार तथा सकरुण मातृवेदना को जीवन के नाना आघात-प्रतिघात, तथा संघर्ष-विघर्ष के बीच और नाना प्रतिक्रियाओं के वैपरीत्य तथा वैमनस्य के ऊपर ऐसे अदृश्य तथा अजानित रूप में विजय प्राप्त करते हुए दिखाया है कि पाषाण-प्राण भी इस मायावी कलाकार की लेखनी के मर्मस्पर्श से शत-शत अश्रु धाराओं के रूप में उच्छ्वसित होकर फूट न पड़े, यह सम्भव नहीं। इन्हीं दो कहानियों में नहीं, इसके बाद लिखी गई 'मेजदिदि,' 'बड़दिदि,' 'निष्कृति' आदि कहानियों में भी हम शरत्चन्द्र की अनुभूति-प्रवणता की वही अन्तःस्पर्शी सहृदयता, वही सूक्ष्मतम संवेदन-शीलता तथा वही विचक्षण मर्मज्ञता पाते हैं। इन सब कहानियों में शरत्चन्द्र ने कठोर वास्तविकता से ताड़ित जिस कमनीय आदर्श के पावन आलोक की करुण-किरणों का विकीरण किया है, उसका जन-समाज में सहजप्रिय तथा आदरणीय बन जाना कोई साधारण बात नहीं है।

अंगरेजी में जिसे 'रियलिस्टिक आर्ट' कहते हैं शरत्चन्द्र ने उसके महत्व को स्वीकार किया है। पर उसी को कला का चरम रूप नहीं माना है। जीवन की कठोर वास्तविकता की अवज्ञा उन्होंने कभी नहीं की है और स्वाभाविकता के वह सदा कट्टर अनुयायी रहे हैं, पर "कला केवल कला के लिए है" इस गहन तत्वयुक्त नीति के बहु-प्रचलित विकृत अर्थ का अनुसरण उन्होंने कभी नहीं किया है। उन्होंने पूर्वोक्त रचनाओं में वास्तविकता की नींव पर सहज स्वाभाविक और साथ ही अज्ञात रूप से जिन कोमल-कमनीय तथा स्निग्ध-मधुर आदर्शों की स्थापना की है वे चिर-कल्याणोन्मुख शाश्वत मानव-मन को अदृश्य चुम्बक-शक्ति से बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। शरत्चन्द्र की पूर्वोल्लिखित कहानियों के नायक-नायिकाओं में आत्म-विरोधी प्रवृत्तियों का द्वन्द्व अत्यन्त उत्कट रूप से चलता है और वे अपने मन के उलटे सीधे चक्रों के जटिल जाल में बड़ी बुरी तरह जकड़े रहते हैं। तथापि उन सब की द्वन्द्वात्मक जटिलता के भीतर तरल स्नेह की एक सहज सरलता परिपूर्ण सामंजस्य के साथ विराज-मान रहती है। उदाहरण के लिए 'रामेर सुमति' का राम बाहर से अत्यंत दुष्ट-प्रकृति और उद्दण्ड स्वभाव दिखाई देने पर भी उसके अंतस्तल में निष्कलुष स्नेह की ऐसी अंतःसलिलधारा छिपी हुई है जिसे या तो नारायणी अपनी सहज सहृदयता की अंतर्प्रेरणा से देख सकती है या स्वयं कहानीकार अपनी मार्मिक अनुभूति से। 'बिन्दुर छेले' के नायक-नायिकाओं के बीच इन्हीं आत्मविरोधी प्रवृत्तियों के पारस्परिक संघर्ष से वैमनस्य की पंकिलता मथित होते रहने पर भी उनके अंतप्रदेश में छिपे हुए पुण्य प्रेम की पावन धारा उस पंकिलता को क्षालित कर देती है। 'मेजदीदी' (मँझली बहन) में पितृ मातृ-हीन मरभुखा लड़का केष्टो जब अनाथावस्था में अपनी सगी बहन के पास जाने पर बहन द्वारा अत्यन्त कटु शब्दों से विताड़ित किया जाता

है तो बहन की देवरानी का सहृदय स्नेह पाकर, उसे मातृस्थानीया मानकर 'मँझली दीदी' कहकर पुकारने लगता है। मँझली दीदी इस अनाथ बालक को सच्चे हृदय से प्यार करने पर भी अपने पति, जेठ और जेठानी (केष्टो की सगी बहन) के निरंतर विरोध से उस के प्रति अवज्ञा का भाव दिखाने लगती है और केष्टो को अपने यहाँ आने से मना कर देती है। पर जब देखती है कि उस निरीह बालक के प्रति संसार और समाज का अत्याचार बढ़ता चला जाता है तो वह रह नहीं सकती और अन्त में सारे परिवार के प्रति विद्रोह घोषित कर के केष्टो को साथ लेकर अपने मायके चले जाने को तैयार होती है। उसका दृढ़ निश्चय देख कर पति गिड़गिड़ा कर उससे क्षमा-याचना करके दोनों को अपने घर वापस ले जाता है। 'बड़ी दीदी' में सांसारिक व्यवहार से निपट अनभिज्ञ, अन्यमनस्क स्वभाव, छल-कपट-रहित एक ग्रेजुएट जन्तु का एक युवती विधवा के प्रति विचित्र रहस्यमय स्नेह दिखाया गया है। विधवा माधवी पर्दे की आड़ में रहकर इस जंतु को (जो उसकी आठ-नौ साल की बहन को पढ़ाया करता है) एक नादान शिशु की तरह मानकर उसके प्रति स्नेह का वही भाव रखती है, जो अपनी छोटी बहन के प्रति। पर एक बार जब वह जंतु सामाजिक आचार-विचार के प्रति अपनी निरी अज्ञानता के कारण पर्दे की कुछ परवा न कर भीतर जाकर 'बड़ी बहन !' कह कर माधवी को पुकारता है तो माधवी संकुचित और त्रस्त होकर कड़े शब्दों में अपनी छोटी बहन से कहती है कि अपने मास्टर को बाहर ले जाये। इसके बाद वह 'जन्तु' उस घर को छोड़कर किस प्रकार कलकत्ते की सड़कों में भटकता है और गाड़ी से दबकर अस्पताल में किस प्रकार 'बड़ी बहन !' 'बड़ी बहन !' कहकर विकारग्रस्त अवस्था में कराहता है और माधवी के मन में उसके प्रति कैसी सकरुण और सुकुमार समवे-दना उमड़ पड़ती है और अंत में किस प्रकार अत्यंत मार्मिक परिस्थिति

में दोनों का पुनर्मिलन होता है, इन सब घटनाओं का वर्णन जिस सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा सहृदय संवेदन के साथ लेखक ने किया है यह वर्णनातीत है। 'वैकुठेर उइल' में दो भाइयों के विचित्र मनोभावों का चित्रण करते हुए दिखाया गया है कि बड़े भाई के बाहर से अत्यन्त रुक्ष-प्रकृति, कठोर-स्वभाव तथा लंठ मालूम पड़ने पर भी भीतर ही भीतर विह्वल भावोद्वेग से उसका हृदय सदा तरङ्गित रहता है, बाहर से अत्यन्त स्वार्थी और अपने छोटे भाई के प्रति अत्यन्त अत्याचार-परायण मालूम पड़ने पर भी जी जान से उसे चाहता है और उसके लिए सर्वस्व त्याग करने के लिए तत्पर रहता है। 'निष्कृति' में दिखाया गया है कि एक सम्मिलित परिवार में सब भाई कमाते हैं, पर सब से छोटा भाई निकम्मा है। मँझले भाई के सिखाने से ज्येष्ठ भ्राता इस निकम्मे भाई को सब अधिकारों से वंचित करने के उद्देश्य से घर जाता है, पर अपनी सहज अंतःकरुणा तथा स्वाभाविक स्नेहभाव के कारण अपनी अज्ञात चेतना की प्रेरणा से उसको सब से अधिक उपकृत कर आता है। इसी ज्येष्ठ भ्राता की पत्नी, निकम्मे भाई की पत्नी को सब समय तिरस्कृत करती रहती है, पर उसका अंतर-चेतन उस पर सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तैयार रहता है।

मैंने शरत्चन्द्र से एक बार चेखोव की कला का विश्लेषण करते हुए कहा था कि ऐसा सच्चा कलाकार मैंने अपने जीवन में कोई नहीं पाया। शरत्चन्द्र ने मेरी बात का पूर्ण समर्थन किया, पर साथ ही कहा—"भारतीय सत्यता का आदर्श कुछ दूसरा ही है। निरर्थक सत्य को हमारे यहाँ कभी विशेष महत्व नहीं दिया गया। हमारे यहाँ कल्याण और मंगल की भावना को सर्वदा उच्च स्थान दिया गया है; इसलिए जिस सत्य की पृष्ठभूमि में यह भावना न हो, उसके प्रति मेरे मन में कभी आदर का भाव नहीं रहा है। मैंने कला को कभी

क्रीड़ा-कौतुक के रूप में नहीं देखा है। मैं उसे मनुष्य के जीवन की चरम साधना के रूप में मानता आया हूँ।"

पूर्व-वर्णित रचनाओं द्वारा शरत्चन्द्र साहित्य-क्षेत्र में यथेष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे; सन्देह नहीं। पर जिन रचनाओं द्वारा उनका जयघोष दुन्दुभि-निनाद के साथ देश के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रतिध्वनित हो उठा, वे बाद में प्रकाशित हुई थीं। वे रचनाएँ हैं—'देवदास', 'चरित्रहीन' तथा 'श्रीकांत'। इन रचनाओं में शरत्चंद्र ने अपनी प्रदीप्त प्रतिभा के ज्वलंत आलोक से सामाजिक विधि-निषेधों से विजड़ित वैयक्तिक आत्मा के भीतर स्वतंत्रता तथा विद्रोह की वह आग भड़का दी, जिनकी लपटें दावाग्नि की तरह थोड़े ही समय में सर्वत्र फैल गईं। समाज के कुटिल चक्र के प्रति असंतोष तथा आत्म-स्वातंत्र्य की आकाँक्षा का अस्पष्ट भाव समाज के प्रत्येक वैयक्तिक प्राणी के भीतर वर्तमान था, शरत्चंद्र ने अपनी उद्दाम आवेगमयी, अप्रतिहत गतिमयी, मर्म-प्रवेशिनी प्राणशक्ति की विस्फूर्जना से उक्त भाव को वैप्लविक रूप से उद्वेलित कर दिया। समाज के बद्ध वातावरण के विषमय आक्रोश द्वारा पीड़ित प्रत्येक आत्मा उन्मुक्त विचार-धारा के इस परिप्लावित तरंग-प्रवाह में बहकर अपने को निर्मुक्त और निर्बंध समझ कर तरंगायमान हो उठी।

देवदास' ने जन-साधारण में जितना आदर पाया है; कला-पारखियों की विवेचना में भी वह उसी परिमाण में खरा उतरा है। 'नाविक के तीरों' की तरह गंभीर घाव करनेवाली इस विशिष्ट रचना का जो स्थायी प्रभाव पाठकों के मन पर पड़ता है, उसके अंतर्गत कारण का अन्वेषण करने पर जब हम उसके नायक और नायिका के मूल चरित्रों का विश्लेषण करते हैं तो पार्वती के चरित्र के गंभीर जलधि के ऊपर देवदास का चरित्र एक वेगशील तरंग की तरह द्रुतगति से प्रवाहमान मालुम पड़ता है। किसी दार्शनिक ने कहा है

कि नारी प्रकृति सदा केंद्रानुग (सेंट्रीपेटल), चिर-स्थिर तथा चिर-संरक्षणशील (कन्सरवेटिव) होती है और पुरुष-प्रकृति सदा केंद्रातिग (सेंट्रीफ्यूगल) चिर चंचल तथा चिर-परिवर्तनशील होती है । शरत्चंद्र की तीनों श्रेष्ठ रचनाओं ('देवदास' 'चरित्रहीन' तथा 'श्रीकांत' के नायक-नायिकाओं के चरित्र-चित्रण में हम नारी-प्रकृति तथा पुरुष-प्रकृति की इन दोनों विशेषताओं को चरम रूप में प्रस्फुटित पाते हैं। यदि शरत्चंद्र के स्त्री-चरित्रों में वह अतलव्यापी गांभीर्य, वह चिर-संरक्षणशील स्थैर्य, वह अनन्तकालीन मूक, मौन, अटल, धैर्य न होता जैसा कि हम उनमें पाते हैं, तो उनके सब पुरुष-चरित्र हवाई बुद्बुदों की तरह अथवा वात-विताड़ित मेघ-खंडों की तरह छिन्नाधार होकर शून्य में विलीन होते हुए दिखाई देते । देवदास एक पतित, दुर्बल और क्षीण इच्छाशक्ति-संपन्न सहृदय प्राणी है; शरत् के प्रायः सभी प्रधान-चरित्रों के संबंध में यही बात कही जा सकती है । इसमें संदेह नहीं कि उसकी आत्मा के अनेक बाह्य स्तरों को लंघित करके उसके अंतर प्रदेश में यदि कोई प्रवेश कर सके तो वहाँ अवश्य ही महत् प्रेम का एक अव्यक्त बीज पाया जायगा, और यही उसके भ्रष्ट चरित्र का उन्नायक तत्व है, जिसे अंगरेजी में 'रिडीमिंग फीचर' कहते हैं । इससे अधिक उसमें हम कुछ नहीं पाते । पर पार्वती के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती । उसके चरित्र विश्लेषण से ऐसा मालूम होने लगता है जैसे वह जन्म से ही जीवन की गहरी अनुभूतियों से चिर-परिचित हो कर आई हो और अपने अतल-व्यापी प्रेम की सुदृढ़ शक्ति के बल से अपने सारे जीवन में मृत्यु के साथ एक सहेली की तरह क्रीड़ा करती चली गई हो । उसका स्वभाव आवेग-प्रवण और भाव-विभोर अवश्य है, पर वह आवेग उसकी आत्मा के निगूढ़ स्थैर्य तथा अनन्त धैर्य द्वारा सुसंयत है । यही कारण है कि देवदास पार्वती के महत् प्रेम की मर्मव्यथा का वृहत्

भार न सह सकने के कारण उच्छृंखल होकर विलीन हो गया, और पार्वती देवदास के प्रेम की स्वर्गीय पीड़ा को वज्रमणि की तरह अपने अंतस्तल में धारण करके अटल धैर्य के साथ अपने वृद्ध स्वामी तथा सौतेले लड़के-लड़कियों की सेवा द्वारा अपना सांसारिक कर्तव्य पूर्ण रूप से निबाहती चली गई।

पहले ही कहा जा चुका है कि शरत् के पुरुष-चरित्र अत्यन्त दुर्बल इच्छाशक्ति-सम्पन्न उच्छृंखल प्राणी हैं, जो गेटे के शब्दों में ऐसे जीव हैं "जिनके हृदयों में भावों का तूफान मचा रहता है, पर जिनकी अस्थियों में सारतत्व नाम को भी नहीं पाया जाता।" शरत् के 'चरित्र हीन' का नायक सतीश भी देवदास की ही तरह इसी प्रकार का दुर्बल प्राणी है। गेटे के 'वेर्टेर' की आलोचना करते हुए फ्रेंच आलोचक गिजो ने कहा था कि 'वर्तमान युग के पुरुष की आकांक्षा अत्यन्त प्रबल होती है, पर उसकी इच्छाशक्ति अत्यन्त दुर्बल होती है।" देवदास और सतीश के सम्बन्ध में यह बात पूरी तरह से लागू है। सतीश के जीवन के असंतोष का भी यही कारण है कि वह अपने भीतर भावों का तूफान मचा हुआ पाता है और उसके भीतर हृदयहीन समाज के मृत्यु-कठिन बन्धनों को न मानकर चलने का एक महत् आकांक्षा भी वर्तमान रहती है, इसी कारण वह कुलत्यागिनी तथापि सदाचरण शीला सावित्री को आंतरिक प्रेम से वरण करने के लिए अधीर हो उठता है। पर सावित्री जानती है कि सतीश का उसके प्रति सहृदय प्रेम होने पर भी उसमें दैहिक आकांक्षा के भाव की प्रधानता है, इसलिए यद्यपि वह उसे अपने प्राणों से भी अधिक चाहती है, तथापि उसके प्रेम को सुन्दर बड़े ढंग से तिरस्कृत करती चली जाती है। फल यह होता है कि सतीश सावित्री की अवज्ञा का भार न सह सकने के कारण शराबखोरी में अधिकाधिक डूबता चला जाता है। सावित्री नाना घटना-चक्रों द्वारा विताड़ित होने पर भी

सतीश को नहीं भूलती और उसकी परम-मंगल-कामना के भाव से प्रेरित होकर अन्त में उसके दुर्बल मन में यह सबल भाव भरने में समर्थ होती है कि त्याग के भाव में ही उन दोनों के प्रेम की महत्ता है, वैवाहिक तथा शारीरिक मिलन में नहीं। इस प्रकार 'चरित्रहीन' में अनन्त प्रेमपूर्ण तथा चिर-विरागिनी सावित्री के महत् चरित्र के अन्तर्गत महान् त्याग, असीम करुणा तथा अपरिमित आत्म-बल के भाव अत्यन्त सुन्दर रूप से अंकित पाए जाते हैं।

शरत्चन्द्र पर सब से बड़ा कलंक यह लगाया जाता है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में असती नारियों तथा वेश्याओं के चरित्र की महत्ता प्रदर्शित की है। शरत् की सब से बड़ी विशेषता इस बात में रही है कि किसी भी स्त्री अथवा पुरुष के व्यक्तित्व का विचार उन्होंने उसके वाह्य आचरण से नहीं किया है। सब वाह्याचारों के जटिल जाल के भीतर मनुष्य के अंतरतम प्रदेश में सहृदय वेदना का जो अज्ञात स्रोत बहता है, उसे उन्मुक्त करके शरत् ने पीड़ित मानवता के आत्म-गौरव की घोषणा की है। पाप को उन्होंने कभी प्रश्रय नहीं दिया है, पर पापी के प्रति उनके हृदय में सदा करुणा की अजस्र धारा बहती रही है।

मैंने एक बार शरत्चन्द्र से प्रश्न किया था—"भारतीय नारी के सतीधर्म के आदर्श के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?"

उन्होंने जो उत्तर दिया था उसका भाव इस प्रकार है— मैं मानव धर्म को सतीधर्म के बहुत ऊपर स्थान देता हूँ। सतीत्व और नारीत्व, ये दोनों आदर्श समान नहीं हैं। नारी-हृदय की निखिल-कल्याणकारी करुणा, उसकी मातृवेदना उसके सतीत्व से बहुत अधिक महत्वपूर्ण हैं। बहुत सी स्त्रियाँ ऐसी देखी गई हैं जिनका किसी दूसरे पुरुष से कभी किसी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक सम्बन्ध नहीं रहा है, तथा उनके स्वभाव में अत्यन्त नीचता, घोर संकीर्णता, परद्रोह तथा

चौरवृत्ति पाई गई है। इसके विपरीत ऐसी पतिताओं से मेरा परिचय रहा है जिनके भीतर मैंने मातृवेदना और नारी-हृदय की यथार्थ करुणा का अथाह सागर उमड़ा हुआ पाया है।

मैंने फिर प्रश्न किया—"यदि यही बात है तो आपने 'श्रीकांत' में अन्नदा दीदी के सतीत्व की महिमा ऐसे ज़ोरदार शब्दों में क्यों घोषित की है कि उसकी प्रदीप्त ज्योति के आगे आपके अन्यान्य नारी चरित्र म्लान पड़ गये हैं ?"

इस बात पर शरत्‌चन्द्र मन्द-मन्द मुस्कुराए और बोले—"तुम्हारी यह बात मैं मानता हूँ ! अन्नदा दीदी के प्रति वास्तव में मेरी भी आंतरिक श्रद्धा है ! मेरे जन्मगत संस्कार आखिर भारतीय ही हैं। फिर भी तुम्हें मैं यह बात बता देना चाहता हूँ कि उसके एकनिष्ठ पतिव्रत धर्म ने मेरी श्रद्धा उतनी नहीं उभाड़ी है, जितनी उसकी प्रेम-प्लावित आत्मा के मुक्त प्रवाह ने।"

शरत् की रचनाओं में वास्तविक जीवन के सम्बन्ध में उनकी गहन अनुभूति के प्रमाण घनीभूत हो उठे हैं। स्पष्ट ही पता चलता है कि मानव-समाज तथा मानव-स्वभाव के नीच, संकीर्ण, जघन्य तथा वीभत्स स्वरूप से वह भली-भाँति परिचित थे; यद्यपि उन्होंने इस पहलू को अधिक महत्व न देकर सहस्रों बुराइयों के भीतर दबी हुई महत् प्रवृत्तियों को मानव-मन की गहनतम गुहा-कंदराओं से बाहर निकाल कर दलित मानवता को अमर महिमा का गौरव-मुकुट पहनाया है।

— •◆• —

शरत्चन्द्र की प्रतिभा

(२)

सुनो रे मानुष भाई !
सबार उपरे मानुष सत्य, ताहार उपर नाई
—चण्डीदास

"हे भाई मनुष्य सुनो ! सबके ऊपर मनुष्य ही एकमात्र सत्य है; उसके ऊपर कोई दूसरा सत्य नहीं है ।"

वर्तमान युग के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार स्वर्गीय श्री शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय की गणना उन अमर कलाकारों के साथ की जा सकती है जिनकी चिरन्तन वेदनात्मक मार्मिक अनुभूति विश्व-मानव-मन के अतल भाव-सागर को परिपूर्ण प्राणावेग से मन्थित करके उसके नव-नव वैचित्र्यपूर्ण रहस्यों को युग-युगान्तर से उद्वेलित करती रही है। अनुभूति की मार्मिकता और प्राणावेग, ये दो बातें विशेष रूप से मनन-योग्य हैं। अनुभूति किसी न किसी परिमाण में प्रत्येक मानव-प्राणी में वर्तमान रहती है, पर उसकी मार्मिकता केवल प्रतिभाशाली कलाकारों में ही पाई जाती है। यही कारण है कि उनकी मर्मभेदिनी दृष्टि विश्व-प्रकृति तथा मानव प्रकृति के अन्तस्तल में प्रवेश करके उनके मूलगत रहस्यों का परिचय सहज में प्राप्त कर लेती है, जिन्हें वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण के साथ अत्यन्त स्वाभाविक तथा सजीव रूप में पाठकों के आगे रखने में समर्थ होते हैं। पर केवल कोरा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किसी भी सच्चे कलाकार के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति के लिये उपयुक्त नहीं होता। कलाकार का प्रधान सम्बन्ध रहता है प्राणों से। किसी व्यक्ति अथवा विषय के मूल प्राणों का मर्म पाठकों के प्राणों तक पहुँचाने में जो लेखक अक्षम है वह कभी श्रेष्ठ

कलाकार नहीं हो सकता। जो रसकार जितनी अधिक वेगशीलता से पाठकों के प्राणों को तरङ्गित करने में समर्थ होगा, अर्थात् जिस लेखक में प्राणावेग जितना अधिक प्रबल होगा उसकी श्रेष्ठता उतनी ही अधिक प्रमाणित होगी। शरत्चन्द्र में ये दोनों गुण—अनुभूति की मार्मिकता तथा प्राणावेग—परिपूर्ण रूप से प्रमाणित होने के कारण ही उनकी महत्ता आज विश्व-वन्दनीय होने जा रही है।

मानव मन की गहन रहस्यमयी सूक्ष्म भावनाओं को, मानवात्मा के महत् आदर्शों को तथा मनुष्य-हृदय की विह्वल वेदनाओं को साधारण जनता तक पहुँचा देना एक असाधारण कलाकार की ही क्षमता की बात है। हमारे यहाँ एक तुलसीदास को छोड़कर अन्य किसी कला-कोविद के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। शरत्चन्द्र के विषय में यह दलील लागू नहीं हो सकती कि उनकी लोकप्रियता का कारण भी अन्यान्य बहुत-से जन-प्रिय लेखकों की तरह उनकी रुचि-विकृति है। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित राय देने के पहले हमें 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता की बात ध्यान में रखनी होगी।

× × ×

शरत्चन्द्र की प्रारम्भिक कहानियों में हम कठोर वास्तविकता के आघात-प्रतिघात, नाना प्रतिक्रियाओं के वैपरीत्य तथा वैमनस्य के ऊपर वर्तमान युग के चक्र संघर्ष में पिसती हुई मातृ-वेदना को विजयिनी होते हुए देखते हैं। 'रामेर समति' में हम देखते हैं कि अपने पितृ-मातृहीन सौतेले देवर राम को आजीवन पुत्र की तरह पालने पर भी उसकी शरारतों और अत्याचारों से नारायणी किस प्रकार तङ्ग आ जाती है, तथापि इस उजड्ड-स्वभाव लड़के की अन्तःप्रकृति में निहित अकपट स्नेह का भाव उसे इस प्रबलता से आकर्षित करता है कि जबर्दस्त विरोधी वातावरण के होते हुए भी वह अपने पति, अपनी माता, तथा सारे समाज के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा करके अन्त तक उस

हतभाग्य और विश्व-स्नेह-वंचित, दुष्ट किन्तु सांसारिक कूट बुद्धि से रहित, नटखट किन्तु निष्कपट लड़के का साथ देती है। 'बिन्दुर छेले' का कथानक कुछ विचित्र ढङ्ग का है। बिन्दु एक धनी जमींदार की लड़की है, पर उसकी जेठानी का जन्म एक निर्धन परिवार में हुआ है। तथापि दोनों बड़े मेल से रहती हैं। दोनों भाइयों में भी बड़ा मेल है। बड़े भाई यादव मुकर्जी पुराने ढङ्ग के और बड़े भोले स्वभाव के आदमी हैं। छोटा भाई माधव नए ढङ्ग का है और उसे अपनी धनी कुल की सुन्दर स्त्री का बड़ा गर्व है। तथापि वह अपने भैया और भाभी के प्रति विशेष श्रद्धावान है। बिन्दु की जेठानी अन्नपूर्णा अपने पति की ही तरह पुराने चाल की स्त्री है। उसका मिजाज़ तेज़ होने पर भी उसका हृदय एकदम निष्कपट और अत्यन्त स्नेहशील है। बिन्दु को वह अपनी सगी बहिन, बल्कि यह कहिए कि अपनी लड़की की तरह चाहती है। बिन्दु निःसन्तान थी और उसे हिस्टीरिया की बीमारी थी। एक दिन ज्योंही उसे फिट आना ही चाहता था कि अकस्मात् उसकी जेठानी न मालूम क्या सोचकर अपना दूध पीता बच्चा उसके पास रोता हुआ छोड़कर बाहर चली गई। बच्चे के रोने में न मालूम क्या जादू था कि बिन्दु को फिट आते-आते रह गया। तब से जब-जब उसे फिट आने को होता, तब तब उसकी जेठानी अपने बच्चे को उसके पास रोता हुआ छोड़ देती। इस उपाय से बिंदु की फिट की बीमारी अच्छी हो गई और वह अपनी जेठानी के लड़के अमूल्य को स्वयं पालने-पोसने लगी। फल यह हुआ कि अमूल्य अपनी मां को जीजी और चाची को मां कहने लगा। अमूल्य के कारण बिंदु अक्सर अपनी जेठानी से झगड़ पड़ती थी। कभी कहती कि उसका दूध ठीक समय पर गरम नहीं किया गया, कभी कहती कि उसके कपड़े न मालूम कहाँ खो दिए। इन छोटी-छोटी बातों को लेकर दोनों में खूब देर तक वाद-विवाद होता, पर कुछ ही समय बाद यह झगड़ा

शान्त हो जाता और दोनों हार्दिक स्नेह से एक-दूसरे से गले मिलतीं। इसी प्रकार स्नेह-प्रेम तथा वैमनस्य की क्रमानुक्रमिक चक्रगति से दस-बारह वर्ष बीत गए। एक दिन देवरानी-जेठानी का वाद-विवाद एक साधारण विषय को लेकर कटुता की इस सीमा को पहुँच गया कि दोनों का सम्बन्ध विच्छेद होने की नौबत आ गई। दोनों भाई अलग-अलग रहने लगे। बिन्दु का प्राणों से प्रिय अमूल्य, जिसके बिना वह एक घड़ी के लिए भी नहीं रह सकती थी, अब अपनी वास्तविक माता के साथ रहने लगा। बिन्दु के पश्चात्ताप की सीमा न रही। केवल अमूल्य को ही नहीं, वह अपनी जेठानी को भी बहुत चाहती थी, जिससे अकारण लड़ पड़ने का परिणाम इस विकट अवस्था को पहुँच गया था। पर वह बड़ी अभिमानिनी थी, और मन में कुछ ही क्यों न सोचे, बाहर से यही भाव दिखाती थी कि उसे न तो अमूल्य की परवाह है न उसकी माता की। फिर भी भीतर ही भीतर चिन्ता के कारण वह घुली जाती थी। अन्त में वह मायके चली गई और वहाँ सख्त बीमार पड़ गई। उसकी जेठानी भी अभिमानवश उससे नहीं मिलती थी पर उसका स्नेह-परायण हृदय उसके चले जाने पर विकल क्रन्दन से विह्वल हो रहा था। जब उसने सुना कि बिन्दु की अवस्था चिन्ताजनक है तो वह रह न सकी और पति तथा पुत्र को साथ लेकर सब अभिमान भूलकर बिन्दु के पास जाकर उससे गले मिलकर रोने लगी। जेठ-जेठानी और अपने प्यारे अमूल्य को फिर से पाकर बिन्दु की जो हालत हुई, उसकी तुलना केवल उस अवस्था से की जा सकती है जब भरत, विछोह की विह्वल वेदना से विमूर्छित से होकर, राम, लक्ष्मण और सीता से मिले थे। बिंदु ने कहा "जीजी! अब मैं न मरूँगी, चिन्ता न करो!"

'बिंदुर छेले' के कथानक का वर्णन कुछ विस्तार से हमने

इसलिए किया है कि इस एक कहानी से शरत्चन्द्र की प्रारम्भिक रचनाओं की विशेषताएँ समझ में आ जावेगी। इसमें पाठक देखेंगे कि कैसे विचित्र अन्तर्द्वन्द्वों, परस्पर-विरोधी मनोवृत्तियों, वाह्य संघर्ष-विघर्षों की तह में स्निग्ध तथा निष्कलुष प्रेम की पावन प्रशान्त धारा मृदु मन्थर गति से कलकल स्वर में बहती चली गई है। विरोधी परिस्थितियों के वैचित्र्यपूर्ण अन्तःचक्रों में दबे हुए सहृदय भावों में समन्वय तथा सामञ्जस्य प्रतिष्ठित करके उन्हें सुन्दर स्वाभाविक रूप में जनता के सामने रखने की कला में शरत्चन्द्र अद्वितीय रहे हैं। उनकी अनेक रचनाओं में हम इसी विशेषता के विभिन्न रूप पाते हैं।

मानव मन के कितने उलटे-सीधे चक्रों के अत्यन्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण द्वारा शरत्चंद्र ने नाना स्वतःविरोधी मनोवृत्तियों तथा परिस्थितियों से पूर्ण वास्तविकता के अत्यन्त युक्तियुक्त परिदर्शन द्वारा अपरिज्ञात रूप से मनोहर आदर्शों का प्रस्फुटन किया है। इन आदर्शों के प्रदर्शन से उनकी कला में कहीं किसी प्रकार की अस्वाभाविक कृत्रिमता नहीं आने पाई है, न कहीं उसमें आदर्श प्रतिष्ठित करने की कोई चेष्टा ही लक्षित होती है। अपने प्रत्येक चित्रांकण में आलोक तथा छाया के उपयुक्त अनुपात का विचार ऐसी सूक्ष्मता से उन्होंने किया है कि कहीं कोई रेखा बाल बराबर भी इधर से उधर नहीं होने पाई है। आदर्श के लिए उन्होंने कहीं कला को रञ्च मात्र भी खण्डित नहीं किया है, और साथ ही यह बात भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि कोरी कला के लिए उन्होंने कभी आदर्श को भी खर्व नहीं होने दिया है। अन्यान्य श्रेष्ठ कलाकारों से शरत् की महानता इसी बात में है। संसार का सर्वश्रेष्ठ कहानीकार इस युग में एण्टन चेखोव माना जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि उसका चरित्र चित्रांकण अत्यन्त सूक्ष्म रूप से वास्तविक और सजीव होता है; और साथ ही उसके चरित्र भी अत्यन्त जटिल, मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों से घिरे हुए रहते हैं। ऐसे चरित्रों का

यथार्थ चित्रण कोई दिल्लगी नहीं, और चेखोव ने उनके विश्लेषण में जो बारीकियाँ दिखाई है वे अतुलनीय हैं। पर उसकी किसी भी कहानी के अन्तरालय में अन्तःसलिला धारा की तरह आदर्श की यह अतीन्द्रियता प्रतिभासित नहीं हुई है जो हम शरत्चन्द्र की कहानियों में पाते हैं।

अपनी प्रारम्भिक कहानियों के बाद शरत्चन्द्र ने जो क्रांतिकारी उपन्यास लिखे, उनमें उन्होंने स्त्री पुरुष के पारस्परिक प्रेम का एक ऐसा अपूर्व आदर्श जनता के सामने रखा जिससे सारा भारतीय समाज हिल उठा। उनकी इस नव-कल्पनामयी कला में अन्तर्विप्लव की जो हिलोर कल्लोलित हो उठी, उसकी तुलना यूरोप के उस युग-विप्लव से की जा सकती है जो जर्मन कवि गेटे की प्रथम-प्रचारित रचना 'वेर्टेर' द्वारा उभड़ पड़ा था। 'वेर्टेर' के प्रभाव के सम्बन्ध में कार्लाइल ने जो कुछ लिखा है वही बात शरत्चन्द्र द्वारा आन्दोलित क्रान्ति के सम्बन्ध में कही जा सकती है। कार्लाइल ने लिखा है: —

"यह अवर्णनीय अज्ञात अशान्ति बन्धनग्रस्त आत्मा की वह अन्ध आलोकात्मक स्वतंत्रताभिलाषा, वह विपुल विषादमूलक महत असन्तोष जो प्रत्येक मानव-प्राणी के अन्तर में उच्छ्वसित हो रहा था, गेटे को मर्माहत कर चुका था। उसका अनुभव सभी कर रहे थे, पर केवल गेटे ही उसे वाणी के रूप में घोषित कर सका। उसकी तत्कालीन लोकप्रियता का रहस्य यहीं पर है। अपने गहन भावप्रवण हृदय में उसने उस वेदना को अन्यान्य व्यक्तियों से सहस्र गुणा अधिक मार्मिकता से अनुभूत किया, और अपनी कविजनोचित सर्जनामयी प्रेरणा से उसने उस वेदना को एक समूर्त तथा सजीव रूप दे दिया। 'वेर्टेर' केवल उस अस्पष्ट, किन्तु मर्मगत वेदना की कराह है जो एक विशेष युग के सभी विचारशील व्यक्तियों को दलित तथा पीड़ित कर रही थी। इसी कारण सारे यूरोप ने हृदय तथा वाणी से तत्काल उसका स्वागत किया।"

'वेर्टेर' में 'देवदास' की ही तरह सामाजिक शासन-चक्र से पीड़ित एक प्रेम-कीलित आत्मा के निष्फल विद्रोह और हाहाकार की ट्रेजिक गाथा वर्णित हुई है। वेर्टेर ने तिरस्कृत प्रेम और असफल आकांक्षा से उकता कर आत्महत्या कर ली, और देवदास भी इन्हीं कारणों से जीवन के प्रति उदासीन होकर मृत्यु के अन्धकूप की ओर लुड़कता चला गया। पर वेर्टेर और देवदास में एक बड़ा भारी अन्तर है। वह यह कि वेर्टेर की प्रेमानुभूति विशुद्ध भावुकता के रस में सराबोर थी। उसने अपनी काव्य-कल्पना से चार्लोट के प्रति अपने प्रेम का जो विराट् रूप अपने मन में अंकित किया था, उसके अन्तस्तल में वास्तव उसका अस्तित्व उस रूप में नहीं था। वह भावुकता की तरङ्ग में बहते बहते अन्त में डूब तक गया और उसकी मृत्यु भी हो गई, तथापि वह यह सिद्ध भी नहीं कर सका कि उसके हृदय में प्रेम की भावना यथार्थ में उतने ही गहन रूप में अवस्थित थी जिस रूप में उसने अपनी छायावादी भावुकता भरे पत्रों में प्रदर्शित किया है। पर देवदास की बात ही कुछ दूसरी थी। देवदास के चरित्र में बहुत सी दुर्बलताएँ होने पर भी उसका प्रेम ऐसा मर्मगत तथा मूक है कि लेखक ने यद्यपि कहीं उसका वर्णन तथा स्पष्टीकरण तक नहीं किया है, तथापि प्रत्येक पाठक उसकी निबिड़ता का अनुभव अपने अन्तस्तल में करता है। वेर्टेर और चार्लोट के प्रेम का कारण एक नवयुवक और एक नव-युवती का साधारण और स्वाभाविक वासनात्मक आकर्षण है। पर देवदास और पार्वती के प्रेम के सम्बन्ध में ऐसा अनुभव होने लगता है जैसे किसी गहन-गम्भीर गुहा से प्रेम की दो धाराएँ उमड़ कर साथ ही बहती आई है, पर पथ में विशाल पर्वत पाषाणों से टकराने के कारण दोनों धाराएँ अलग हो पड़ी हैं और उनके बीच में विराट् व्यवधान पड़ गया है; तथापि दोनों अनन्त-मिलन की चिर-व्याकुलता लेकर नाना गिरि-कन्दराओं तथा गहन अरण्य-पथों में पछाड़ खाती

हुई युग से युगान्तर की ओर प्रवाहित होती चली गई है। देवदास और पार्वती के प्रेम-वर्णन के लिए इस जटिल छायावादी रूपक की आवश्यकता इसलिए पड़ी है कि यद्यपि शरत्चन्द्र ने कठोर वास्तविक जीवन के रङ्गमञ्च पर उसका प्रदर्शन किया है, तथापि उसका मूलाधार उस चिरन्तर आध्यात्मिक सत्य पर स्थित है जिसकी प्रतिध्वनि वैष्णव कवि की इस उक्ति में फूट पड़ी थी: —

लाख-लाख युग हिये-हिये राखनु
तबु हिया जुड़न ना गेलो॥

वेर्टेर और चारलोट का प्रेम क्षणिक भावावेश की अस्थायी अवधि तक सीमित है, पर देवदास और पार्वती का प्रेम महाकाल के असीम बैकग्राउण्ड पर अधिष्ठित है। यही कारण है कि 'वेर्टेर' के प्रकाशन से भावावेग की जो उद्दाम तरङ्ग एक बार सारे यूरोप में उद्वेलित हो उठी वह दो-चार वर्ष से अधिक समय तक स्थायी न रही। पर 'देवदास' की लहर यद्यपि 'वेर्टेर' के अनुरूप कारणों से ही भारत में उमड़ी तथापि आज उसके प्रथम प्रकाशन के बीस-बाईस वर्ष बाद भी उसका अस्तित्व लोप न होकर उसका प्लावन अधिकाधिक बढ़ता ही चला जाता है।

कहा जाता है कि शरत् की नारियों में विद्रोह का भाव रहा है। पर मैं कहना चाहता हूँ कि उनमें वास्तविक विद्रोह नहीं, बल्कि विद्रोह का बाहरी रूप वर्तमान है। यह विद्रोह उस तूफान की तरह है जो समुद्र की मर्यादा को लंघित नहीं कर सकता। समाज की बाह्य व्यवस्था का पालन पूर्ण रूप से न करने पर भी शरत्चन्द्र की नायिकाएं महत्वपूर्ण विषयों में सदा समाज की मर्यादा को मनाती चली गई हैं। देवदास के प्रति अपने प्रेम को तनिक न छिपाने पर भी पार्वती अपने वृद्ध पति के साथ प्रेमभाव से रह कर सामाजिक विधि-विधानों का पूर्ण पालन करती गई है। सतीश के प्रति आन्तरिक प्रेम होते हुए

भी सावित्री उसके साथ विवाह के प्रस्ताव पर कभी राज़ी न हुई और न कभी किसी प्रकार का दैहिक संबंध उसने उससे स्थापित किया। श्रीकान्त की अन्नदा दीदी ने कुल त्याग कर भी अपने सँपेरे पति का साथ अन्त तक दिया। राजलक्ष्मी घटनाओं से वेश्या का जीवन बिताने को बाध्य होने पर भी अपने मूलगत धार्मिक संस्कार का त्याग उसने कभी न किया और जिस व्यक्ति को (श्रीकांत को) वह अपने प्राणों से भी अधिक चाहती थी उसके साथ सदा पवित्र सम्बन्ध निबाहती आई। 'श्रीकांत' की अभया केवल एक ऐसी नारी है जिसने अपने अत्याचारी, आततायी पति का संसर्ग त्याग कर दूसरे पुरुष के साथ पूर्ण रूप से गार्हस्थिक सम्बन्ध स्थापित करने का साहस किया है। पर इस विद्रोहिनी नारी की आत्मा के तलप्रदेश में भी मातृजाति की स्वाभाविक मर्यादा और संसार तथा भगवान, दोनों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना पूर्ण रूप में वर्तमान रही है। वाह्याचार की दृष्टि से शरत् के स्त्री-पात्रों के जीवन में कैसी ही उच्छृङ्खलता क्यों न पाई जाती हो, पर संसार तथा भगवान के प्रति वे सब उत्तरदायित्वपूर्ण हैं, और इसी कारण उनके जीवन का आदर्श अत्यन्त सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित है। यदि यह सुदृढ़ भित्ति न होती तो उनका विद्रोह साबुन के पानी के बर्तनों में मचे हुए तूफान के कारण उठे हुए बुलबुलों की तरह सारहीन होता। जिन आलोचकों ने शरत् की भावना में उच्छृङ्खलता निर्देशित की है उन्होंने केवल उसका बाहरी रूप ही देखा है और यह नहीं देखा कि उसका आधार कितनी गहराई पर है और किस प्रकार ठोस है।

पतित पुरुष तथा भ्रष्टा नारी के भीतर भी देवत्व का निवास है, यह भाव नया न होने पर भी शरत् ने अपने कवि-हृदय की सुकुमार तथा मार्मिक अनुभूति से उसे अत्यन्त सुन्दर रूप से व्यंजित किया है, इसीलिए धर्म के ठीकेदारों के आक्रमण उन पर होते रहे हैं।

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'पतिता' शीर्षक कविता में एक भ्रष्टा वारांगना के अन्तर में निहित देवत्व के अमृत-स्रोत को इस सहज स्वाभाविक गति से उन्मुक्त किया है कि उसके पुण्य प्रवाह से सारा वंग-काव्य-साहित्य परिप्लावित हो उठा है। प्रायः चालीस वर्ष पहले रवीन्द्रनाथ ने एक कविता लिखी थी जिसमें उन्होंने अपनी गहरी अन्तर्दृष्टि की उदार सहृदयता से प्रेरित होकर पतिता नारी का माहात्म्य इन शब्दों में वर्णित किया था:—

"सती लोक में न जाने कितनी ऐसी पतिव्रताएँ वास करती हैं, जिनकी कथाएं पुराणों में उज्वल रूप से वर्तमान है। उनके अतिरिक्त और भी लाखों अज्ञातनामिनी, ख्यातिहीना, कीर्तिहीना सतियां वर्तमान रही है। उनमें से कोई राजप्रासाद में रहती थी, कोई पर्ण-कुटी में रहती थी, कोई पति का प्रेम पाकर सुखी थी, और कोई अनादर और अवज्ञा में जीवन बिताती थी। (निष्काम) प्रेम की धारा बहाकर और अपना नाम मिटा कर वे मर्त्यलोक से सतीलोक में चली आती रही हैं। उन्हीं सतियों के बीच में पतिता रमणी भी विराज रही है, जो मर्त्य में कलङ्किनी है, पर स्वर्ग में सतियों की शिरोमणि के रूप में अवस्थित है। उसे देख कर सती-गर्व से गर्विणी स्त्रियाँ लज्जा से सिर झुका लेती हैं। उसकी वार्ता तुम क्या समझोगे? केवल अन्तर्यामी ही उसके सतीत्व की गाथा से परिचित हैं।"

हमें स्मरण रखना चाहिए कि शरत्चन्द्र का जन्म उस प्रदेश में हुआ है जहाँ मध्ययुग के अन्यतम कवि चण्डीदास ने एक धोबिन के प्रेम से पागल होकर, संसार और समाज का झूठा बन्धन तोड़ कर करुणा और प्रेम की ऐसी धारा बहा दी जिसकी बाढ़ में वंग-साहित्य संसार अभी तक बहता चला आया है। चण्डीदास ने सामाजिकता के बाह्याचार की तनिक भी परवा न करके मनुष्य के मानवत्व को अपना कर अमर शब्दों में उसकी विजय-घोषणा की थी।

रवीन्द्रनाथ ने एक विशुद्ध कवि की प्रेरणा पाकर अरूपात्मक भावों के उद्वेलन द्वारा पतिता की अन्तरात्मा के भीतर छिपे हुए पुण्य-आलोक का प्रदर्शन किया है। पर शरत्चन्द्र कवि-प्राण होने पर भी वास्तविक जीवन के उपन्यासकार थे। उन्हें उसी अरूपात्मक भाव को अभिव्यक्त करने के लिए कठोर वास्तविकता के संघर्ष के बीच प्रवेश करना पड़ा है। वास्तविक जीवन की वीभत्स पंकिलता को मथित करके उन्होंने चिर-उपेक्षिता, अनाथा, घृणित नारी के हृदय के अन्तरतम प्रवेश में दबे हुए दिव्य कमल को बाहर निकाल कर अत्यन्त मनोरम रूप से प्रस्फुटित किया है। यही उनका दोष रहा है, जिसे कुछ आलोचक क्षमा नहीं कर सके हैं, यही उनका गुण रहा है जिसने लाखों पाठकों के पाप-तप्त हृदयों में शीतल पुण्यामृत का अविरल स्रोत बहा दिया है।

जिन लोगों ने शरत्चन्द्र को दुर्नीति तथा अनाचार का प्रचारक बताने का दुस्साहस किया है उन्हें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि शरत्चन्द्र ने अन्नदा दीदी तथा सुरबाला के समान ऐसे अमर चरित्रों की अवतारणा की है जिनके उज्ज्वल सतीत्व के आगे पौराणिक सतियों के चरित्र भी फीके पड़ जाते हैं। वास्तव में सतीत्व के आदर्श के प्रति शरत् अत्यन्त श्रद्धावान रहे हैं, मौखिक रूप से वह भले ही कुछ कहते रहे हों। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि उच्छृङ्खलता तथा अनाचार के वह सदा विरोधी रहे हैं। किसी भी नायक अथवा नायिका के उत्तरदायित्वहीन समाज-विद्रोह का समर्थन उन्होंने क्षीण इङ्गित से भी कभी नहीं किया है। 'चरित्रहीन' की किरणमयी की दुर्गति का जो लोमहर्षक तथा मर्मभेदी चित्रांकण उन्होंने किया है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। जिन समाज-बहिष्कृता, कुलत्यागिनी अथवा कलंकिता नारियों के प्रति उन्होंने उदार समवेदना प्रदर्शित की है वे मीरा की तरह कुल-कानि त्यागने पर भी

अपनी निजी आत्मा, विश्वात्मा तथा परमात्मा के प्रति अपने उत्तर-दायित्व को पूर्ण रूप से निबाहती चली गई हैं। अन्तर केवल यही रहा कि मीरा ने कृष्ण की काल्पनिक मूर्ति पर अपना तन, मन, प्राण निछावर करके चिर-मिलन का मोहोन्मादमय जीवन बिताया है और शरत् की प्रत्येक समाज-पीड़िता नारी ने अपने वास्तविक जीवन के सजीव कृष्ण के प्रेम में तन्मय होकर चिर-विरह की विह्वल वेदना को प्रशान्त हृदय से वरण किया है।

कालिदास ने प्रेम-प्रवञ्चिता दीर्घ-विरह-व्रतचारिणी शकुन्तला की सकरुण स्निग्धच्छवि का वर्णन इन मार्मिक शब्दों में किया है:—

वसने परिधूरे वासना, नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः
अति निष्करुणस्य शुद्धशीला, मम दीर्घं विरहव्रतं विभर्ति।

करुणा-कलित वैराग्य की कमनीय कोमल वेदना का जो मूर्तिमान रूप कालिदास ने इस अमर लोक में अङ्कित किया है, शरत्चन्द्र ने पार्वती, सावित्री, चन्द्रमुखी, आदि चरित्रों में उसी की महिमा अधिक तर सघन रूप से चित्रित की है। कालिदास की शकुन्तला दीर्घ विरह-व्रत-चारिणी रही है, पर शरत् की पूर्वोक्त नायिकाएँ अनन्तकालीन विरह का महाव्रत मौन वेदना से यापन करती चली गई हैं। शकुन्तला की विरह-व्यथा मिलन की अज्ञात आशा के आलोक से उज्ज्वल थी और वह आशा अन्त में सफल भी हुई। पर शरत् की नारियों को मिलन की प्रत्यक्ष सुविधाएँ होते हुए भी वास्तविक मिलन से वे सदा दूर रही हैं, और अनन्त-विरह की पावन-अग्नि में चिरकाल तपते रहना ही वे इहलोक तथा परलोक का आदर्श मानकर चली हैं। इस प्रकार के पुण्य-चरित्रों की अमर गाथा से आर्य-संस्कृति को कलंकित करने के बजाय शरत्चन्द्र ने उसे वर्णनातीत रूप से महिमान्वित किया है, यह बात निःशङ्क होकर कही जा सकती है।

महाप्राण शरत्चन्द्र की यह विशेषता विश्व-साहित्य में सदा वन्दनीय होकर रहेगी। रूसी युग के बाद ऐसा एक भी कहानी-कलाकार संसार में पैदा नहीं हुआ जो प्राण-प्रवेग शरत् का मुक़ाबला कर सके और जो डास्टाएव्सकी तथा शरत् की तरह आन्तरिक समवेदना से पतिता नारी के पदप्रान्त में झुककर यह गद्-गद्-विह्वल भाव-व्यक्त करने का वास्तविक अधिकारी बन सके कि "मैं पीड़ित मानवता को श्रद्धा से प्रणाम करता हूँ।"

१९३८

———

साहित्य में दुःखवाद

एको रसः करुण एव निमित्त भेदाद्
भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्त्तान्;
आवर्त्त बुद्बुद्तरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेवहि तत्समस्तम्ॐ।

--भवभूति।

विश्व-साहित्य में विषाद-रस का इतना आधिक्य है कि देखकर आश्चर्य होता है। प्राचीनतम काल से कवि लोग इस रस की चर्चा में निमग्न होते आये हैं। ग्रीक लोगों के ट्रेजेडी-साहित्य का रस जिन लोगों ने पान किया है, वे जानते हैं कि यह रस कैसा अनिर्वचनीय, अद्वितीय तथा अनोखा है। होमर के महाकाव्य इस रस से भरे पड़े हैं। रामायण की कथा में यह रस कितने प्रचण्ड-रूप से मथित हुआ है, यह सभी को विदित है। इस महाकाव्य की मूल कथा राम-वनवास से प्रारम्भ हुई है और सीता-वनवास में समाप्त हुई है। यदि रामायण को हम विषाद-रस का उत्ताल-तरङ्ग-माला-समाकुल सागर कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी। महाभारत के भीषण युद्ध का परिणाम और कुछ भी हो, सुखात्मक नहीं कहा जा सकता। इस काव्य के कवि ने विषाद-रस के अतल गर्भ में अपनी सर्वात्मा निमज्जित करके धीरे-धीरे वहाँ से बाहर निकल कर, महाकाश के मुक्त प्रसार में, ईथर (Ether)

ॐ रस एक ही, और वह करुण है, जो निमित्त-भेद से भिन्न-भिन्न रूपों में व्यक्त होता है; जिस प्रकार जल एक होने पर भी आवर्त्त, बुदबुद, तरंग आदि नाना रूपों में व्यक्त होता है।

की सूक्ष्म तरङ्गों में निर्द्वन्द्व भाव से उड़ान भरने की चेष्टा की है। यद्यपि वह प्रचण्ड आशावादी रहा है, तथापि इस काव्य की कथा हृदय में एक गम्भीर विषाद की प्रगाढ़ छाया अङ्कित कर जाती है।

दान्ते की 'स्वर्गीय काव्य-धारा' (Divina Commedia) उसकी मर्म-वेदना से घनाच्छन्न है। शेक्सपीयर की ट्रेजेडियों में उत्कट विषाद का ऐसा कटु रस मथित हुआ है कि उसके आस्वादन से आत्मा में भीषण आतङ्क छा जाता है। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों के अंगरेज़ कवि तथा रोमान्टिक युग के फ्रान्सीसी कवियों की कविता भी मुख्यत: दुःखमूलक है। बायरनवाद (Byronism) ने यूरोप के कवियों पर विशेष प्रभाव डाला है। वर्ड्सवर्थ टेनीसन् भी, जो अंग्रेज कवियों में सबसे अधिक आशावादी कहे जा सकते हैं, मानव-जीवन की करुण गाथा वर्णन करने में विशेष आनन्द प्राप्त करते थे। जर्मनी में गेटे Werther fever नामक भयङ्कर विषाद-विशिष्ट रोग का बीज वपन कर गया है। एक जमाने में सारा यूरोप इस रोग से आक्रान्त हो गया था। गेटे के फ़ाउस्ट' में वर्णित दुःखान्त कथा हृदय को उत्कट वेदना से द्रवीभूत तथा अवसादित कर देती है।

मानव-हृदय की समस्त वृत्तियाँ न मालूम किस प्रचण्ड आकर्षण की तीव्रता से चिरन्तन दुःख के भाव में केन्द्रीभूत होने के लिये व्याकुल रहती हैं। इस दुःख की अनिर्वचनीय माया के प्रभाव से मनुष्य का सदा-विद्रोही मन नाना जटिलताओं से संकुल होने पर भी शान्त तथा स्थिर हो जाता है। इस रहस्य का कारण अज्ञात तथा अज्ञेय है। यह सोचना भ्रमात्मक होगा कि सांसारिक कष्टों से पीड़ित, दुःखी आत्माएँ ही विषाद की माया से आकर्षित होती हैं। बल्कि ध्यानपूर्वक विचार करने से यह जान पड़ता है कि सबसे अधिक सुखी वे ही जीव हैं, जिनकी आत्माएँ टेनीसन के Lotos Eaters की mild-

minded melancholy (स्निग्ध हृदय का मधुर विषाद) के मद-विह्वल रस से अभिसिञ्चित हों।

टेनीसन के कथनानुसार सुखी मनुष्य शरत् काल के प्रसन्न तथा निर्मल खेतों को देखकर रोवे, कालिदास के कथनानुसार चिर-सन्तुष्ट जीव रमणीय दृश्य देखकर तथा मधुर शब्द सुनकर उत्कण्ठित हो, यह बात अत्यन्त विरोधाभासात्मक है। पर यह वास्तविक तथ्य है। मनुष्य की मूल प्रकृति, उसका प्रत्येक रक्तकण इस हद तक विषाद-भाव के प्रति आकर्षित होता है कि उसकी प्रसन्नता की चरमावस्था आँसुओं के रूप में प्रकट होती है! सभी जानते हैं कि जब कोई व्यक्ति किसी उमङ्ग से हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता है तो उसकी आँखों से आँसू निकल आते हैं। शारीरिक क्रिया का जब यह हाल है तब आध्यात्मिक भावावेग के सम्बन्ध में कुछ कहना ही व्यर्थ है। टेनीसन के स्वर्गीय विषाद (devine despair) का भाव सृष्टि के मूलकेन्द्र में अवस्थित है।

'साहित्य-कला और विरह' शीर्षक लेख में कहा जा चुका है कि चिरन्तर विरह का भाव बीच-बीच में हमारे अन्तस्तल से उद्भूत होकर समस्त आत्मा को व्याकुल कर देता है। इस भाव के निर्झर का आवेग मिलन के समय तीव्रतम होता है। यही कारण है कि प्रेमी लोगों का उच्छ्वास विरह की अपेक्षा मिलन के अवसर पर अधिक बढ़ता हुआ देखा गया है। वास्तविक विरह की अवस्था में शारीरिक वेदना का ज़ोर ज्यादा रहता है, पर मिलने के समय एक अज्ञात, मधुर आध्यात्मिक वेदना उमड़ती है, जो अपनी स्निग्धता से एक अपूर्व करुण उत्सुकता उत्पन्न कर देती है। इसी कारण हम शेक्सपीयर की मिराण्ड को मिलन के उल्लास से रोते देखते हैं और सुदीर्घ विरह के पश्चात् काश्यपाश्रम में दुष्यन्त तथा शकुन्तला का मिलन चित्त को मधुर करुणा के आवेश से इतना विकल कर देता है।

प्रकृति के चक्र में दुःख और सुख—अन्धकार तथा प्रकाश—ये दो परस्पर-विरोधी 'गुण' वर्तमान हैं। बहुधा यह देखा गया है कि जो कवि जितना अनुभवी होता है वह उसी परिणाम में दुःख तथा अन्धकार की ओर अधिक झुकता है। प्रेम तथा आनन्द के कवि कालिदास और रवीन्द्रनाथ ने अपनी कविता-रूपी इन्द्रधनुष की मनोमुग्धकर 'रत्नच्छाया' को निविड़ कृष्ण मेघ के फलक पर चित्रित करना पसन्द किया है। वसन्त की सुमधुर प्रसन्नता की अपेक्षा वे वर्षा के स्तब्ध गाम्भीर्य से अधिक मोहित हुए हैं। दिन की उज्ज्वलता की अपेक्षा रात्रि के गहन अन्धकार से उनका चित्त अधिक विचलित हुआ है। एक कविता में रवीन्द्रनाथ लिखते हैं—

> यथा दिवा-अवसाने निशीथ निलये
> विश्व देखा देय तार ग्रह-तारा लये,
> हास्य-परिहास-मुक्त हृदये आमार
> देखितो से अन्तहीन जगत्-विस्तार।

"जिस प्रकार दिन के अवसान होने पर रात्रि के आलय में विश्व अपने ग्रह और तारकाओं को लेकर प्रकट होता है, उसी प्रकार हास्य-परिहास से मुक्त मेरे हृदय में वह अन्तहीन जगत् का विस्तार देखती।" इसी सम्बन्ध में एक जगह उन्होंने लिखा है, "मैंने उस (अपनी प्रिया को) कल्पना का सत्य राज्य नहीं दिखाया—इस निर्जन आत्मा के अन्धकार में नहीं बैठाया।" आत्मा के रहस्य में एक सुनिविड़ अन्धकार की गहन छाया छिपी है। उसकी माया कवि को पागल किये देती है।

यह सोचकर आश्चर्य होता है कि ऐसा क्यों हुआ करता है। प्रकाश की मधुर प्रसन्नता छोड़कर कवि अनन्त अन्धकार की गहन माया का पीछा क्यों करता है? वसन्त के निर्मल शुभ्र प्रभात से शरत् की शान्त, स्निग्ध सन्ध्या अपने मधुर विषाद से उसकी आत्मा को

अधिक प्रणोदित करती है। रात्रि की सुनिबिड़ कालिमा से उसे जो प्रेरणा प्राप्त होती है, वह मध्याह्न के तेजोद्दीप्त प्रकाश से कदापि नहीं हो सकती। कोयल की कूक की प्रशंसा कवि बहुधा किया करते हैं। पर विवेचक तथा रसज्ञ पाठक जानते हैं कि 'कपोत-कूजन' 'केका-रव' तथा 'moan of dove' (कपोती का विलाप) के वर्णन में कवि की आत्मा कितनी अधिक उल्लसित होती है। संसार की कठोर वास्तविकताजन्य सुख दुखों के भोग से अनुभव-प्राप्त प्रौढ़ हृदय का प्रेम हृदय की अन्ततम वृत्तियों को आलोड़ित कर देता है; पर नवोढ़ा युवती का गाम्भीर्यहीन नवीन प्रेम उसे केवल हलकी गुदगुदी देने में समर्थ होता है। शकुन्तला के नवीन प्रेम ने दुष्यन्त को विचलित अवश्य किया था, पर वह उसे शीघ्र ही भूल गये थे। किन्तु सुदीर्घ विरह-व्रत के कारण जब शकुन्तला का हृदय परिणतावस्था को प्राप्त हो गया तब उसके लिए दुष्यन्त कितने विकल हुए थे, यह सभी को विदित है।

शेली के Spirit of Delight (आनन्द के मूल भाव) की कल्पना उसके Spirit of Night (रात्रि की मूल भावात्मा) से उद्भूत होती है। उसी प्रकार कालिदास की अनन्त आनन्द तथा अनन्त यौवनमयी अलकापुरी की कल्पना निबिड़ कृष्ण मेघ की सघनता के मूल भाव से उत्सारित हुई है। इन सब बातों से यही जान पड़ता है कि इन कवियों की आध्यात्मिक क्षुधा के लिये अन्धकार कम महत्वपूर्ण नहीं है। अन्धकार तथा प्रकाश दुःख और सुख एकमेवाद्वितीयम् सत्य के ही दो विभिन्न स्वरूप हैं। इन दोनों के सामञ्जस्य से ही सत्य का पूर्ण आभास प्राप्त होता है। कालिदास के मेघदूत में वसन्त तथा वर्षा का अपूर्व सामञ्जस्य पाया जाता है। वह टेनीसन के Lavish lights and floating shades (मुक्त प्रकाश तथा भासमान छाया) की full flowing harmony (पूर्ण प्रवाह-प्राप्त सामञ्जस्य) है।

विचार करने पर जान पड़ेगा कि अन्धकार में स्थिरता, गाम्भीर्य तथा अपरिमित का भाव पाया जाता है। सुनील गगन की स्तब्ध निविड़ता में जो अनन्त की स्थिर शान्त, महती गरिमा का भाव प्रभासित होता है वह अनन्य है। पर प्रकाश की चंचल चमक सदा दोलायमान, अस्थिर तथा क्षणिक होती है। उसकी तड़क भड़क में सार बहुत कम रहता है। वह गम्भीर कलिमामय प्रशान्त सागर की कल्लोलमय तरङ्गमाला के शुभ्र फेन की तरह सुन्दर तथापि लघु होती है। इसमें सन्देह नहीं कि आलोक से ही विद्या तथा अनन्द प्रसूत होते हैं। पर साथ ही यह भी न भूलना चाहिये कि आलोक अन्धकार के रहस्यमय गर्भ से उद्भूत होता है। जब ईथर (Ether) का कम्पन निम्नतम अवस्था में होता है तब अन्धकार आलोक के जनक के रूप में विद्यमान रहता है; जब उसका कम्पन चरमावस्था को प्राप्त हो जाता है तब वह आलोक का भी आलोक बन जाता है। अन्धकार कदापि आलोक का 'नास्ति' (Negative) रूप नहीं है। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व वर्तमान है। जर्मन कवि गेटे ने जब न्यूटन की Spectrum theory का खण्डन किया, तब उसने यह मत प्रकट किया कि अन्धकार एक positive (सकारात्मक) गुण है। उसका कहना है कि शुभ्र आलोक (white light) में कोई रङ्ग वर्तमान नहीं है। न्यूटन की यह उक्ति भ्रमपूर्ण है कि रङ्गों की 'रत्नच्छाया' शुभ्र आलोक से प्रसूत होती है। गेटे के मतानुसार रङ्गों की उत्पत्ति आलोक तथा अन्धकार के भिन्न-भिन्न परिमाणों में सम्मिलित होने से होती है। जिस प्रकार कबीर का 'शब्द' आत्मा की निस्तब्धता से उद्भूत होता है, उसी प्रकार आलोक अन्धकार से उत्पन्न होता है।

यहाँ तक हमने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि अन्धकार की माया कवियों के लिये कितनी आकर्षक है। अब देखना चाहिए कि

विश्व-साहित्य में विषाद की जो इतनी प्रधानता पाई जाती है, उसका मूल कारण क्या है ? मनुष्य सदा महत् आदर्शों की प्राप्ति की चेष्टा में रत रहता है, पर पग-पग में उसे अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। आदर्शों तथा बाधाओं के बीच निरन्तर संघर्षण चलता जाता है। यही संघर्षण मनुष्य के चिरन्तन दुःख तथा विषाद का मूल कारण है। मानव-प्रकृति दुर्बलताओं से भरी पड़ी है, मनुष्य उन्हें जीतने की चेष्टा करता है, पर बहुधा परास्त हो जाता है। उसकी प्रकृति-गत दुर्बलताएँ ही उसको अवसादग्रस्त बना देती हैं। महाभारत में वर्णित नाशकारी महायुद्ध का मुख्य कारण युधिष्ठिर की दुर्बलता ही थी। वह अपने राज्य तथा अपनी चरित्रशीला अबला स्त्री तक को भी जुए में हार गये! धर्मराज होने पर भी उनकी प्रकृति में इतनी घोर दुर्बलता का अस्तित्व देखकर स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि मानव-चरित्र की नींव में दुर्बलता का बीज कितने भीतर जाकर पैठा है। इलियड में वर्णित ट्रोजन युद्ध का मूल कारण अनुपम सुन्दरी हेलेन की उद्दाम तथा असंयत वासना ही है। उसने पेरिस नामक ट्रोजन युवक के सौन्दर्य पर मोहित होकर अपना पति त्याग दिया था। आत्मसंयम की हीनता के कारण ही उसने ऐसा किया था, स्वेच्छा-पूर्वक नहीं !

गेटे के 'फौस्ट' ने अपनी 'दो आत्माओं' के सम्बन्ध में जो प्रसिद्ध उद्गार प्रकट किया है, उससे इस रहस्य के उद्घाटन में कुछ सहायता मिल सकती है। वह कहता है—"हाय ! मेरे भीतर दो आत्माएँ निवास करती हैं। एक आत्मा दूसरे को विसर्जित करने के लिये सदा उत्सुक रहती है। एक तो संसार की विपुल कामनाओं के भोग के लिये लालायित होकर इस पार्थिव संसार को अपनी इन्द्रियों से दृढ़ता-पूर्वक जकड़े है, दूसरा पार्थिव-भोग के दलदल से मुक्ति पाने के लिए महाकाश के उन्मुक्त प्रसार में अपने पंख फैलाकर उड़ान भरना चाहती

है। हे वायुलोक की आत्माओ ! मुझे सदा नये-नये रूपों में परिवर्तित होने वाले विपुल तथा अज्ञात जीवन की ओर ले चलो !"

ये 'दो आत्माएँ' प्रत्येक व्यक्ति के भीतर निवास करती हैं, पर अस्पष्ट-रूप में। किन्तु प्रतिभाशाली व्यक्ति के भीतर वे दो स्पष्ट धाराओं में विकसित होती जाती हैं। एक उसे विलासिता के प्रति आकर्षित करती है, दूसरी उसे महत् आदर्शों की ओर खींचती है। इन 'दो आत्माओं' के संघर्षण से एक प्रकार की प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, जो उद्दीप्त तारकाओं के प्रबल उत्ताप की तरह सदा सृष्टि की रचना भी करती है और नाश भी। महापुरुषों के हृदय के भीतर यह जो भयंकर अग्निकाण्ड प्रतिक्षण जारी रहता है उसके कारण उसका स्वभाव भी उत्तप्त रहता है और जीवन भी अनेकांश में दुःखमय बन जाता है। यही कारण है कि गेटे ने एकाधिक बार आत्मघात करने की चेष्टा की थी। यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि 'हैमलेट' का रचयिता अपनी अमर ट्रेजेडी लिखने के पहले जीवन से उकता गया होगा। रूसो अपनी प्रकृति की उद्दाम प्रवृत्ति के कारण जीवन-भर कष्ट भोगता रहा। टाल्सटाय की द्विविध प्रकृति (Double Personality) तो प्रसिद्ध ही है। इसके कारण उनसे बहुत दुःख झेलने पड़े। To be or not to be ('जीना चाहिये या मरना') के प्रश्न ने हैमलेट की तरह उसे भी बहुत दिनों तक सताया था।

फौस्ट की 'दो आत्माओं' का भाव हमारे उपनिषदों में दूसरे ढंग से मिलता है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
> समानं वृक्षं परिसष्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-
> नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

इन्द्रियातीत सुख की यह कल्पना ही उसे 'वास्तविक' सुख से अधिक सत्य प्रतीत होती है। यही कारण है कि प्रतिभाशाली पुरुष इसी काल्पनिक आदर्शस्वरूप सुख को अपना केन्द्रस्थित लक्ष्य बनाते आये हैं। इसी केन्द्र की प्राप्ति के लिये वे अपनी समस्त वृत्तियों को सुसंस्कृत करने की चेष्टा करते हैं। पर इस संस्कृति की पूर्णता प्राप्त करने में उन्हें इन्द्रिय-सम्बन्धी नाना बाधाओं का सामना करना पड़ता है। यहाँ तक कि उनके जीवन में एक स्थिति ऐसी भी आती है, जब उन्हें दुःख और पाप की उपेक्षा न करके उनको सत्य का एक आवश्यक अंग मानना पड़ता है। पाप की भावना मनुष्य को मृत्यु पर्यन्त नहीं छोड़ सकती। गेटे अपने आत्मचरित में लिखता है कि जब पाप और दुःख का भाव जीवात्मा के मूल में पैठा है तब उसके कारण हताश होना महान् मूर्खता है। हमें अपनी 'दूसरी आत्मा' की संस्कृति में तत्पर रहना चाहिये। पाप की भावना को अपना काम अलग करने दो। उसे अधिक महत्व न देने से एक बार ऐसी स्थिति आवेगी जब वह भी तुम्हारी उच्च वृत्तियों की संस्कृति में बाधा पहुँचाने के बदले सहायता देगी। ख़ैर।

पर ये सब कहने की बातें हैं। जिनका स्वभाव Sensitive (अतिवेदनशील) तथा सहृदय है, वे बिना दुःख तथा पाप के भाव से प्रभावित हुए नहीं रह सकते। गेटे ने अपना आत्मचरित अन्तिम जीवन में लिखा था। उस समय कदाचित् उसके स्वभाव मे कुछ परिवर्त्तन हो गया हो। पर जीवन भर वह पाप की भावना से तङ्ग रहा। पाप की विभीषिका उसकी रचनाओं में शेक्सपीयर की ट्रेजेडियों से कम परिमाण में नहीं पाई जाती। फ़ौस्ट का जीवन भी हैम-लेट की तरह इसी भावना से नष्ट-भ्रष्ट हो गया था। गेटे ने अपनी आत्मा में फ़ौस्ट की यातनाओं का अनुभव किया, इसी कारण

उसने उसके व्यर्थ जीवन का क्षुब्ध गर्जन अपनी ट्रेजेडी में इतने सुन्दर-रूप से प्रस्फुटित किया है।

पाश्चात्य कवियों ने मानव-जीवन की व्यर्थता, दुर्बलता तथा यातनाओं की समस्या उत्थापित तो की है, पर उसका समाधान करने की चेष्टा उन्होंने कहीं नहीं की। शेक्सपीयर के दुःखित, पीड़ित तथा आत्म-प्रक्षिप्त चरित्रों का व्यर्थ क्रन्दन अपने गर्जन तथा हुङ्कार से आकाश को फाड़ देता है और सारी दुनिया को सिर पर उठा लेता है, पर उनका चिल्लाना अरण्यरोदन के समान है। उसकी कोई सार्थकता नहीं है। पर हमारे कवियों ने दुःख और पाप के भाव को शान्त-रूप से ग्रहण किया है। संसार में जीव नाना दुःखों से पीड़ित है, इसमें सन्देह नहीं। पर आत्मविद्रोह से उन दुःखों का निवारण कदापि नहीं हो सकता। इसलिये उन लोगों ने निर्विकार भाव से अपना कर्त्तव्य निभाकर नीलकण्ठ महादेव की तरह पाप का विष पान कर लेने का उपदेश दिया है। अपनी कला में विषाद का भाव उन्होंने दर्शाया है। पर वह विषाद अत्यन्त स्निग्ध तथा करुण है। जिस प्रकार एक सुन्दरी, सहृदया, स्नेहशीला तथा कर्त्तव्य परायणा स्त्री नाना दुःखों का भोग करती हुई भी शान्त-रूप से घर-गिरस्ती के सभी काम-काज निभाती रहती है और बिना किसी शिकायत के अनन्त की प्रतीक्षा में अपने दिन बिताती है, उसी प्रकार हमारे कवियों ने (कालिदास आदि ने) जीवन के समस्त पाप और दुःखों को निर्विकार भाव से सहन करके स्निग्ध करुणा का स्रोत बहाया है और मधुर आनन्द का आभास दिया है।

दुःख और पाप की यातना को व्यर्थ न समझकर हमारे कवियों ने उसकी सार्थकता त्याग के भाव में दिखलाई है। दुःख की यातना एक ऐसी प्रचंड शक्ति है, जो गेटे के कथनानुसार वास्तव में मनुष्य को उन्नति की ओर प्रेरित करती है। जो व्यक्ति जितने अधिक परि-

माण में दुःख तथा विषाद के सागर में डूबा हुआ है, वह उतना ही अधिक उच्चतम आदर्श के प्रति आकर्षित होता जाता है। इसका कारण यह है कि त्याग की महत्ता वही अधिक समझ सकता है। दुष्यन्त और शकुन्तला जब दीर्घ विरह की आँच में पूरी तरह तप जाते हैं तब वे त्याग की महत्ता समझने लगते हैं और प्रेम की महिमा का मर्म जान कर अनन्त के बन्धन में, स्वर्गीय स्नेहपाश से बँध जाते है। यह बन्धन ही वास्तविक मुक्ति है। तुच्छ जीवन से त्राण इसी के द्वारा मिलता है। गरज यह कि दुःख के धक्के से ही मनुष्य की आत्मा जागरित होकर अपना वास्तविक स्वरूप समझ पाती है। दुःख-रूपी पिप्पल का फल चखकर जब उसे वितृष्णा हो जाती है, तब वह अपने साथी 'दूसरी आत्मा' का आन्तरिक रहस्य समझने में समर्थ होती है।

ईसाई-धर्म का मूल भाव भी दुःख-द्वारा अनुभूति इसी त्याग के भाव में स्थित है। "Blessed are they that mourn, for they shall be comforted" इस वाक्य में दुःख की महत्ता दिखलाई गई है। दुःख व्यर्थ नहीं है, क्योंकि उसके कारण सान्त्वना का आनंद प्राप्त होता है। Song of Solomon (सुलेमान का सङ्गीत) इसी प्राच्य भाव का आभास देता है, जो विरहिणी तथा मुग्धायक्ष-प्रिया की तरह अपने करुणा-विह्वल, कोमल हृदय का स्निग्ध विषाद नयन-सलिल से आर्द्र तन्त्री की पुनः-पुनः विस्मृत मूर्च्छना (तान) के द्वारा व्यञ्जित करता है। सुलेमान का यह सङ्गीत उस हृदय का करुण राग है, जो अश्रु-विगलित नेत्रों से शान्तभाव से प्रियतम के अनन्त मिलन की प्रतीक्षा करता है। समस्त अँगरेज़ कवियों में वर्ड्सवर्थ तथा टेनी-सन ने ही यह प्राच्यभाव इस तरह से अपनाया है। अत्यन्त भयङ्कर तथा निष्ठुरतम प्राकृतिक नियमों को भी इन कवियों ने स्थिरता तथा धैर्य के साथ शान्त भाव से ग्रहण किया है। समस्त प्राकृतिक नियमों की जटिलता के भीतर वे एक अपूर्व सामञ्जस्य देख पाये हैं।

In Memoriam में टेनीसन ने लिखा है—

> I curse not nature, no, nor death;
> For nothing is that errs from law.

"मैं न प्रकृति को अभिशाप देना चाहता हूँ न मृत्यु को; क्योंकि जो महानियम-चक्र सारी सृष्टि को छाये हुए है उसमें कोई भूल नहीं हो सकती।"

शेक्सपीयर के चरित्रों ने इस भाव का रहस्य नहीं समझा था। उनकी आत्मविद्रोही प्रकृति की भीषण झटिका के प्रचण्ड हुङ्कार का यही कारण है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि अन्धकार तथा विषाद विश्व-प्रकृति के सौंदर्य में स्थिरता तथा गम्भीरता का भाव ला देते हैं। कवि लोग भले ही दुःख की यातना पर केवल उसी की खातिर मर मिटें किन्तु आनन्द के भाव में पूर्णता प्राप्त करने में ही उसकी सार्थकता है। आनन्द-विषाद, पुण्य-पाप, आलोक-अन्धकार, जीवन मरण, ये सब पूर्ण सत्य के ही दो विभिन्न-रूप हैं। एक दूसरे के बिना अपूर्ण है। एक भाव प्रतिक्षण मनुष्य को कर्म के लिये प्रेरित कर रहा है, दूसरा अहरह उसे शांति तथा विश्रान्ति के लिए लालायित कर रहा है। एक चंचल है दूसरा स्तब्ध। एक शक्ति है दूसरा शिव।

१९२८

———————